chapter. 4

: चतुर्थ अध्याय :

:: अन्य पौराणिक उपन्यास ::

: चतुर्थ अध्याय :

:: अन्य पौराणिक उपन्यास ::

प्रास्ताविक:

पूर्ववर्ती अध्यायों में हमने पौराणिक उपन्यासों की विभावना को स्पष्ट करते हुए ऐतिहासिक उपन्यासों और पौराणिक उपन्यासों के बीच के अंतर को न केवल स्पष्ट किया है, अपितु पौराणिक उपन्यासों के कतिपय व्यावर्तक लक्षणों को भी सुनिश्चित किया है। ऐतिहासिक उपन्यास और पौराणिक उपन्यास के बीच का प्रथमदर्शी अंतर तो यह है कि इतिहास में यदि किसी नामांकित व्यक्ति के नाम का उसीके वंशक्रम में पुनरावर्तन होता है तो वहां पर नाम के पीछे प्रथम, द्वितीय, तृतीय ,चतुर्थ, पंचम आदि क्रमवाची संख्या-विशेषण का प्रयोग अवश्य होता है; जैसे कि बड़ौदा राज्य के सुप्रसिद्ध महाराजा सयाजीराव गायकवाड जिनका बड़ौदा की समृद्धि और संपन्न्ता तथा सांस्कृतिक गरिमा में महत्वपूर्ण योगदान है उनके नाम के पीछे 'तृतीय' विशेषण लगता है। अभिप्राय यह कि उस वंश में उनके पहले दूसरे दो सयाजीराव हो चुके हैं। परन्तु पुराणों में ऐसी व्यवस्था नहीं हैं। वहां पर वसिष्ठ, विश्वामित्र, व्यास, परशुराम आदि पात्र विभिन्न युगों में भी पाये जाते हैं। दूसरे उनके युग या कालखण्ड भी कुछेक वर्षों के न होकर हजारों वर्षों के होते हैं। यहां हमारा अभिप्राय यह है कि इतिहास और पुराण ये दो विभिन्न विभावनाएं हैं, फ़लत: ऐतिहासिक उपन्यासों और पौराणिक उपन्यासों में उतना ही अंतर मिलेगा जितना इतिहास और पुराण में है। किन्तु एक बात यह भी तय है कि पौराणिक उपन्यास भी होता तो उपन्यास ही है, भले ही उसकी कथा पौराणिक वृत्त पर आधारित हो। अत: इन उपन्यासों को उपन्यास की शर्तों पर खरा तो उतरना ही पड़ता है। मतलब कि उसे जीवन से तथा जीवन की समस्याओं से जुड़ना और जूझना पड़ता है।

यथासंभव उसके चमत्कारिक अंशों को दूर कर उनको अधिक स्वाभाविक एवं तर्कसंगत बनाना पड़ता है। इस प्रक्रिया में उसकी मिथक कथाओं का व्यवहारिक एवं वैज्ञानिक अर्थघटन देना पड़ता है। तृतीय अध्याय में हमने डॉ. नरेन्द्र कोहली के रामायण और महाभारत पर आधृत उपन्यासों की विषद विवेचना की है, अब इस अध्याय में हम अन्य पौराणिक उपन्यासों का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे। इन उपन्यासों में 'अनामदास का पोथा' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी), 'वयं रक्षामः' (आचार्य चतुरसेन शास्त्री), 'अपने अपने राम' (डॉ. भगवानसिंह); 'प्रथम पुरुष', 'पुरुषोत्तम', 'पवनपुत्र' (डॉ.भगवतीशरण मिश्र); 'अभिज्ञान' (डॉ. नरेन्द्र कोहली), 'सुतो वा सुत पुत्रो वा' (डॉ. बच्चनसिंह), 'संभवामि' (सन्हैयालाल ओझा), 'एकदा नैमिषारण्ये' (अमृतलाल नागर) आदि मुख्य रहेंगे। इन उपन्यासों के अतिरिक्त मनु शर्मा के भी कुछेक पौराणिक उपन्यास है जिनमें 'द्रौपदी की आत्मकथा', 'द्रोण की आत्मकथा', 'कर्ण की आत्मकथा', 'कृष्ण की आत्मकथा' आदि उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासों पर भी विचार किया गया है। डॉ. कोहली का 'अभिज्ञान' उपन्यास यहां इस अध्याय में इसलिए रखा गया है कि वह रामायण या महाभारत पर आधृत नहीं है। उसकी कथा भागवत पर आधारित है।

(1) अनामदास का पोथा (1976) :

'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारु-चन्द्रलेख', 'पुनर्नवा' के उपरान्त 'अनामदास का पोथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का चौथा उपन्यास है। "उनका प्रथम उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' छठीं-सातवीं शताब्दी के हर्षकालीन भारत का जीवंत चित्र प्रस्तुत करता है तो 'चारुचन्द्रलेख' ग्यारहवीं-बारहवीं सदी के विघटनशील भारत की कहानी सुनाता है। यदि 'पुनर्नवा' में तीसरी-चौथी शताब्दि का इतिहास, सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक चेतना के द्वारा बहुविध रुपों मुखरित हुआ है, तो 'अनामदास का पोथा' इतिहास की इस जानी-मानी परिधि का अतिक्रमण करके उपनिषदकाल में जा पहुंचा है, जिसे प्रागैतिहासिक काल कहा जा सकता है, क्योंकि

'उपनिषद' न तो इतिहास ग्रन्थ है, न ही उसकी कालसीमा निर्धारित की जा सकती है"।[1]

जिस प्रकार 'आत्मकथा' आस्ट्रियावासी दीदी के माध्यम से प्रस्तुत हुई है, ठीक उसी प्रकार 'पोथा' अनामदास के माध्यम से प्रस्तुत हुआ है। द्विवेदीजी अपने 'गप्प' को विश्वसनीय बनाने के लिए इस प्रकार की युक्ति प्रयोजते हैं। 'अनामदास का पोथा' अथ रैक्व आख्यान, छांदोग्य उपनिषद में वर्णित 'ऋष्य-श्रृंग आख्यान' के साथ-साथ 'बृहदारण्यक उपनिषद' की कतिपय दार्शनिक चर्चाओं को आधार-सामग्री बनाकर, अतीत के माध्यम से वर्तमान की समस्याओं को प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है। ऐसा ही प्रयास बंगला के बुद्धदेव बसु ने अपनी नाट्य-कृति 'तपस्वी ओ तरंगिणी' में किया है जहां औपनिषदिक श्रष्य श्रृंग आधुनिक मानव का प्रतीक बनकर आया है। प्रस्तुत उपन्यास को हम बुद्धिप्रधान उपन्यास कह सकते है। भाषाविज्ञान, निरुक्त, नक्षत्र-ज्ञान, ज्योतिष-विद्या, तंत्र-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र, वेद, उपनिषद आदि अनेक विषयों की जानकारी यहां पाठक को मिलती है, यदि उसमें उसे पढ़ने का धैर्य हो। मराठी में वामन मल्हार जोशी के उपन्यास तत्व-मीमांसा के लिए विख्यात हैं, उन्हें 'तात्विक उपन्यास का जनक' माना जाता है। द्विवेदीजी का प्रस्तुत उपन्यास भी उसी कोटि में आ सकता है।[2]

उपन्यास की कथा इस प्रकार है। मेघावी एवं तपस्वी ऋषि रिक्व का बेटा रैक्व शैशवावस्था से ही माता-पिता के प्रेम से वंचित हो जाता है। फ़लतः वह चिंतन-मनन में रत रहता है। उसे संसार का कोई विशेष ज्ञान नहीं है, यहां तक कि उसे स्त्री-पुरुष का अंतर भी ज्ञात नहीं है। एक दिन रैक्व तीसरे पहर जब नदी में स्नान कर रहा था तब जोरदार आंधी आती है। आंधी के बाद आकाश निरभ्र हो जाता है, तब रैक्व यात्रा पर चल पड़ता है। मार्ग में उसे आंधी में उलट गयी और कीचड़ में फ़ंसी बैलगाड़ी मिलती है। गाड़ीवान की मृत्यु हो गयी थी, परंतु गाड़ी में लेटे एक अन्य व्यक्ति का जीवन अभी शेष था। रैक्व के उपचार से उसमें होश आता है। वस्तुतः वह राजा जानश्रुति की एक मात्रा कन्या जाबाला थी और अपनी मौसी को

मिलने जा रही थी। आंधी के कारण वह मूर्च्छित हो गयी थी। रैक्व ने इसके पहले किसी स्त्री को नहीं देखा था। अतः इसके रूप-गुण पर वह मुग्ध हो जाता है और उसे देवता समझने लगता है। वह उसे 'शुभा' कहता है, उसे गुरु मानता है और साथ ही मन ही मन में उसे प्रेम करने लगता है। वह उसकी मृगी-सी आंखों को टटोलता है, मुलायम रेशमी बालों को छूकर स्पर्श-सुख का अनुभव करता है और उसे अपनी पीठ पर बिठाकर उसके घर छोड़ने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। परंतु वह अपने अनुचरों के साथ लौट जाती है। स्त्री-पुरुष के भेद को समझने वाली जाबाला रैक्व के उक्त उपक्रम को पाप समझती है। उसके बाद रैक्व की पीठ में सनसनाहट शुरु हो जाती है। नारी के सानिध्य और उसे प्राप्त करने की आदिम अभिलाषा के रुप में ही शायद द्विवेदीजी ने इस अनवरत चलनेवाली सनसनाहट (खुजली) के रुप में चित्रित किया है।

रैक्व स्त्री के प्रथम दर्शन से इतना अभिभूत हो जाता है कि वह दिन-रात शुभा-शुभा का रटण करता रहता है। उसकी दृष्टिमें "मनु नहीं, वसिष्ठ नहीं, आपस्तंब नहीं, अत्रि नहीं, याज्ञ-वल्क्य नहीं, धर्म के बारे में जानती है तो केवल शुभा"।3 अब सत्य और शुभा की खोज उसके लक्ष्य हो जाते हैं। उधर जाबाला भी पहले तो ब्रह्मचारिणी रहना चाहती थी, पर रैक्व से मिलने के बाद वह भी उसे प्रेम करने लगती है। रैक्व के स्पर्श को पहले तो वह पाप समझती थी, पर अब वह उसकी कामना करने लगती है। रैक्व के आकर्षण से उत्प्रेरित होकर वह बड़ी सभानता के साथ माता ऋतम्भरा से उसके बारे में पूछती रहती है—"रैक्व आपके बेटे है मां। यह वही रैक्व हैं जो पहले कभी टूटी गाड़ी के नीचे बैठ पीठ खुलजाया करते थे?"[4] इसी भांति वह ऋजुका से भी पूछती है—"तो रैक्व तुझे दीदी कहते हैं? मैंने सुना है कि वे बड़ा तप किया करते हैं?... अच्छा तुझे बताया कभी कि यह शुभा कौन है?[5] जाबाला विरह-ताप से अस्वस्थ रहने लगती है। तब राजा जानश्रृति को लगता है कि गंधर्व के आवेग के कारण ऐसा हुआ है। जन-सामान्य में ऐसी मान्यता प्रचलित थी कि कुमारी कन्याओं में कई बार गंधर्व का आवेग होता है। यह गंधर्व उसका खून चूस

लेते हैं। अतः उसके निवारण के लिए राजा कोहलीय लोगों के नाट्य करवाते हैं। उस गोपन नाट्य समारोह में माता ऋतम्भरा तथा अरुन्धती के द्वारा जाबाला पकड़ी जाती है और वह अपना हृदय उनके सामने खोल देती है। तब उन्हें ज्ञात होता है कि जाबाला सचमुच में रैक्व को प्रेम करती है और उसे पति रूप में पाना चाहती है।

उधर रैक्व को एक दिन अपनी यात्रा के दरमियान महर्षि ओषस्ति की पत्नी, भगवती ऋतम्भरा मिलती है। वह रैक्व को अपनी कुटिया में ले आती है। रैक्व को मां का प्यार उनसे मिलता है। वह अपनी सारी कहानी माता ऋतम्भरा के समक्ष प्रकट कर देता है। माता ऋतम्भरा सत्य स्थिति से अवगत है कि रैक्व जिसे शुभा कहता है वह और कोई नहीं पर जाबाला ही है। तपस्वी औषस्ति से रैक्व तत्वज्ञान सीखता है कि दूसरों का दुःख दूर करना ही सच्चा तप है। औपनिषदिक दर्शन की क्रमबद्ध अवतारणा महर्षि औषस्ति के द्वारा हुई है। द्विवेदीजी का मानवतावादी चिंतन इसी पात्र के द्वारा अभिव्यक्ति पाता है। तत्कालीन तमाम मत-मतांतरों की चर्चा के द्वारा वे जिज्ञासु रैक्व की दार्शनिक संभावनाओं को उजागर करने के साथ-साथ उसे समाज से जोड़ते हैं। उसे सामाजाभिमुख बनाते हैं। निवृत्ति-मार्ग के स्थान पर उसे प्रवृत्ति-मार्ग के लिए प्रेरित करते हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं—"लोक-ताप से तप्त होना सबसे बड़ा तप है, क्योंकि वह अखिलात्मा पुरुष की परमाधना है"।[6] इस प्रकार महर्षि औषस्ति 'ब्रह्म-केन्द्रित-दर्शन' को 'मानव-केन्द्रित-दर्शन में परिवर्तित कर देते हैं।

महर्षि औषस्ति का उक्त कथन यह प्रमाणित करता है कि जहां-जहां पीड़ित है, सर्वहारा है, शोषित है, उनकी रक्षा करना, उनकी सहायता करना, उनके पक्ष में खड़े रहना ही सबसे बड़ा धर्म है। मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। सबारि ऊपर मानुष सत्य। 'चिन्मय' के लिए 'मृण्मय' की अवहेलना व्यर्थ है। सेवा-धर्म ही सबसे बड़ा धर्म है। मनुष्य की उपेक्षा करके कोरे तत्व-चिंतन में लगे रहना वाग्विलास मात्र है।

उन दिनों राजा जानश्रुति के राज्य में अकाल पड़ता है। भूख से पीड़ित दीन-हीन-मरणासन्न लोगों की पुकार सुनकर रैक्व तथा माता ऋतम्भरा उस सेवा-यज्ञ में लग जाते हैं। आचार्य औदुम्बरायण को भी प्रजा के कष्टों का पता चला तो उन्होंने राजा जानश्रुति को सावधान किया। इधर भगवती ऋतम्भरा भी प्रजा के कष्टों का समाचार लेकर राजा से मिलती हैं और उनको अनुरोध करती है कि वे इस भयंकर दुर्भिक्ष में प्रजा की सहायता करें। राजा का ध्यान भी प्रजा की ओर जाता है। राजा तथा जाबाला औषस्ति के आश्रम में जाते हैं। राजा तो आश्रम के बाहर रुक जाता है क्योंकि ऋषि की अनुमति के बिना उनका आश्रम-प्रवेश उस जमाने में वर्जित था, पर जाबाला तो माता की कुटिया में चली जाती हैं। वहां रैक्व से उसका मिलन होता है। दोनों एक-दूसरे को देखकर आश्चर्य-विमुग्ध हो जाते हैं। रैक्व को ज्ञात होता है कि जाबाला ही उसकी शुभा है। अब माता ऋतम्भरा, ऋजुका, आश्वलायन, आचार्य औदुम्बरायण, राजा जानश्रुति सभी को रैक्व-जाबाला के प्रेम का पता चल जाता है। अतः उनके विवाह की तैयारियां शुरु हो जाती हैं और अन्ततः उनका विवाह सम्पन्न हो जाता है।

इस तरह देखा जाए तो कहानी अत्यन्त क्षीण है। परंतु बीच-बीच में जो अन्य प्रसंग आते हैं, चर्चाएं होती हैं, उनसे तत्कालीन औपनिषदिक परिवेश की सृष्टि होती है। एक स्थान पर भगवती ऋतम्भरा रैक्व से कहती है—"देख बेटा, तू जिस तत्व को सबसे बड़ा या एकमात्र तत्व मान रहा है, यह धर्म का निर्णायक नहीं है। धर्म कुछ कर्तव्यों और आचरणों से प्रकट होता है। ... जो अपने आप की सुविधा का ध्यान न रखकर दूसरों के दुःख को दूर करने का प्रयत्न करता है, सत्य से च्युत नहीं होता, दूसरों का कष्ट दूर करने के लिए अपना प्राण तक त्याग सकता है, वही धार्मिक है। वह परम या चरम तत्व के बारे में क्या जानता है, यह बड़ी बात नहीं। बड़ी बात है कि वह कैसा आचरण करता है। उनके लिए कितना त्याग कर सकता है। यही तय करेगा कि वह धर्मपरायण है या नहीं

है"।[7] इससे स्पष्ट होता है कि उपन्यास का लक्ष्य औपनिषदिक ज्ञानचर्चा की आधुनिक व्याख्या करना है।

उपन्यास का एक अक्खड़ संत कहता है—"प्रजा शब्द का अर्थ ही संतान है। राजा के लिए प्रजा की सारी बेटियां उसकी अपनी बेटी हैं। ... जिस राजा के राज्य में बच्चे और स्त्रियां भूख-प्यास से व्याकुल होती हैं उसका सत्यानाश हो जाता है और राजा नरक का अधिकारी होता है"।[8]

राजा जानश्रुति के राज्य में अकाल पड़ने पर रैक्व तत्व-चिंतन छोड़कर लोकसेवा का व्रत लेता है। तब महर्षि औषस्तिपाद उसे उदबोधित करते हैं—"एकान्त का तप बड़ा नहीं है बेटा! देखो, संसार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है, कुसंस्कार हैं। लोग दु:ख से व्याकुल हैं। उनमें जाना चाहिए। उनके दु:ख का भागी बनकर उनका दु:ख दूर करने का प्रयत्न करो। यही वास्तविकता है।[9] और रैक्व भगवती ऋतम्भरा के साथ जनपद में घूम-घूमकर लोगों का कष्ट देखते हैं और उसके निवारण का प्रयास करते हैं। इस प्रकार 'अनामदास का पोथा तप पर कर्म की, निवृत्तिमार्ग पर पवृत्तिमार्ग की, विजय का आख्यान है। संसार के दु:ख-दर्दों को देखकर सिद्धार्थ वन में चले गये थे, उन्हींको देखकर रैक्व वन से संसार में आते हैं। यही इस उपन्यास का प्रतिपाद्य है।

यहां भी स्पष्ट हुआ है कि उपनिषदकाल में जहां वेद, यज्ञ, अनुष्ठान आदि को मानने वाले थे, वहां उसको नकारने वाले 'मुनि' भी थे। अनेकान्तवादी जटिल मुनि उसी परंपरा में आते हैं। जब रैक्व सत्य और शुभा के द्वन्द्वों में कैद था, तब उस द्वन्द्व से मुक्ति दिलाने का काम जटिल मुनि ही करते हैं। आचार्य औबुन्दरायण जाबाला के आश्वलायन से वाग्दान को महत्व देते हैं, वहां जटिल मुनि, भगवती ऋतम्भरा आदि 'प्रेम' तत्व को महत्व देते हैं और सिद्ध करते हैं कि 'सबसे ऊंची प्रेम सगाई'।

(2) वयं रक्षामः (1955) :

'वयं रक्षामः' आचार्य चतुरसेन शास्त्री का एक पौराणिक उपन्यास है। उन्होंने प्रेमचंदयुग से औपन्यासिक लेखन की शुरुआत की थी और सर्वश्री वृन्दावनलाल वर्मा के साथ-साथ ऐतिहासिक उपन्यासों में अपना विशिष्ट स्थान अर्जित कर लिया था। 'वैशाली की नगरवधू', 'आलमगीर', 'सोमनाथ', 'सोना और खून' आदि उनके ऐतिहासिक उपन्यास हैं। किन्तु प्रस्तुत उपन्यास में निरुपित देशकाल इतिहास-निर्धारित अवधि में नहीं आता है। इसका विषयवस्तु पौराणिक है।

प्रस्तुत उपन्यास के संदर्भ में स्वयं आचार्य चतुरसेन शास्त्री का कथन है—"इस उपन्यास में प्राग्वेदकालीन नर, नाग, देव, दैत्य, दानव, आर्य, अनार्य आदि विविध नृवंशों के जीवन के वे विस्मृत पुरातन रेखाचित्र हैं, जिन्हें धर्म के रंगीन शीशे में देखकर सारे संसार ने अंतरिक्ष का देवता मान लिया था। मैं इस उपन्यास में उन्हें नर रूप में आपके समक्ष उपस्थित करने का साहस कर रहा हूं। आज तक कभी मनुष्य की वाणी से न सुनी गई बातें, मैं आपको सुनाने पर आमादा हूं। ... उपन्यास में मेरे अपने जीवन-भर के अध्ययन का सार है"।[10]

डॉ. रामदरश मिश्र ने अपने आलोचना-ग्रन्थ 'हिन्दी उपन्यासः एक अन्तर्यात्रा 'में प्रस्तुत उपन्यास का जिक्र ऐतिहासिक उपन्यास के संदर्भ में किया है और केवल तीन-चार पंक्तियों में उसकी चर्चा समाप्त कर दी है। यथा—" 'वयं रक्षामः' (1955) में लेखक ने प्राग्वेद काल की कथाएं ली हैं। उस काल का सजीव वातावरण प्रस्तुत कर तत्कालीन जीवन के समस्त सम्बन्धों की कथाओं में बांधने का प्रयत्न किया है। लेखक की दृष्टि तत्कालीन जीवन-मूल्यों का भी उद्घघाटन करना नहीं भूलती"।[11]

डॉ. गोपालराय ने भी 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' में 'वयं रक्षामः' की चर्चा बहुत ही संक्षेप में की है — " 'वयं रक्षामः' में राम-रावण कथा को केन्द्र में रखकर आर्य, राक्षस, देव, दानव आदि

संस्कृतियों के संघर्ष और समन्वय की कथा प्रस्तुत की गयी है। इन उपन्यासों में (यहां 'इन' से तात्पर्य 'वैशाली की नगरवधू' से भी है जिसमें उन्होंने बौद्ध-साहित्य के सुप्रसिद्ध अम्बपाली के चरित्र को केन्द्र में रखकर उस काल की ब्राह्मण, बौद्ध और जैन संस्कृतियों के टकराव तथा मगध, काशी, कोशल और गणराज्य वैशाली के राजनीतिक संघर्षों का अंकन किया है।) शास्त्रीजी का प्राचीन भारतीय संस्कृति का अध्ययन प्रभावी रूप में प्रकट हुआ है"।[12]

इधर डॉ. आलोक गुप्त ने अपने एक आलेख में 'वयं रक्षाम:' के संदर्भ में अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा है—"स्वातंत्र्योत्तर काल में रामकथा पर आधारित पांच उपन्यास मेरे देखने में आए हैं। प्रथम दो हैं—चतुरसेन शास्त्री का 'वयं रक्षाम:' (1954) और सत्यदेव चतुर्वेदी का 'अमितवेग' (1958)। इनके बारे में डॉ. सत्यपाल चुप की टिप्पणी है—ये दोनों भी पूर्णतया रामायण-कालीन नहीं है और न इनके कथा-नायक राम हैं। 'अमितवेग' के नायक हनुमान है और 'वयं रक्षाम:' के नायक रावण हैं। इनमें रामकथा प्रसंगानुकूल ही आई है। 'वयं रक्षाम:' में रावण का नायकत्व एवं राक्षस संस्कृति की विशिष्टता बताना ही मुख्य उद्देश्य है। यह उपन्यास अवान्तरकथाओं, अनावश्यक प्रसंगो, एवं शिथिल वस्तु-संयोजन के कारण रूचि-संपन्न पाठक को निराश करता है। इस उपन्यास की एक सीमा यह भी है यह मिथकीय चरित्रों की गरिमा की रक्षा के बारे में सजग नहीं है और न वह ऐसा कोई तथ्य प्रस्तुत करता है जिससे इन पात्रों के इस निरूपण को स्वीकार किया जा सके। रामायण के पात्र हम तक एक विशिष्ट चरित्र लेकर आते हैं। यदि रचनाकार के पास ठोस तथ्य है जिनके द्वारा वह इन पात्रों से जुड़े प्रसंगो का विश्लेषण कर बुद्धिगम्य बनाता है तो ही स्वीकार्य हो सकता है। यद्यपि जातीय संस्कारों के चलते यह भी कठिन है। 'वयं रक्षाम:' के प्रारंभ में राक्षस संस्कृति की एक विशिष्ट्ता मुक्त उद्दाम यौनाचार को मूर्त करने के प्रयत्न में अनावश्यक संवादों के द्वारा दैत्य कुमारी और रावण की रति-क्रीडा को बड़ा फूहड़ बना दिया है। इस तरह एक प्रसंग में रावण सीता के यौवन का उपयोग करने का प्रस्ताव रखता है तो सीता का उत्तर भी

मिथकीय गरिमा को खण्डित करता है। वह इस प्रस्ताव से क्रोधित नहीं होती, बल्कि उपदेश देती है। वह अपने बचाव के लिए कहती है—'मैं आर्य कुलवधू हूं। फ़िर भला मैं लोक-निंदित आचरण कैसे कर सकती हूं।... आपके अवरोध में त्रैलोक्य से लाई हुई बहुत-सी सुन्दरियां हैं, आपको उन्हीं से संतुष्ट रहना चाहिए। 'सीता का यह कथन उसकी गरिमा को नष्ट कर उसे एक साधारण स्वार्थी स्त्री के रूप में खड़ा कर देता है"।[13]

डॉ. आलोक की उपर्युक्त सुदीर्ध टिप्पणी के कई बिन्दुओं से सहमत नहीं हो सकते, जैसे—

1. 'वयं रक्षामः' तथा 'अमित वेग' के संदर्भ में यह कहना कि वह पूर्णतया रामायणकलीन नहीं, कुछ उपर्युक्त या तर्कसंगत नहीं लगता, क्योंकि यदि ये दोनों उपन्यास क्रमशः रावण और हनुमान को केन्द्र में रखकर लिखे गये हैं, तो वे रामायण काल से बाहर कैसे हो सकते हैं?

2. 'यह उपन्यास अवान्तरकथाओं... रूचि-संपन्न पाठक को निराश करता है। 'यह कथन सभी पाठकों पर नहीं लागू हो सकता। जो मानते हैं कि साहित्य को साहित्येतर विधाओं और विद्याओं से भी जुड़ना चाहिए, ऐसे भिन्न-रूचि पाठकों को ऐसे उपन्यास आकर्षित भी कर सकते हैं, क्योंकि इतिहास, पुरातत्व, नृवंशशास्त्र, विभिन्न संस्कृतियों का अध्ययन आदि में रूचि रखने वाले पाठकों को यह उपन्यास काफ़ी मूल्यवान सामग्री दे सकता है।

3. 'यदि रचनाकार के पास ठोस तथ्य है' यह कथन भ्रमित करता है। सभी औपन्यासिक आलोचक आचार्य चतुरसेन शास्त्री के इतिहास-संस्कृति विषयक गंभीर अध्ययन का लोहा मानते हैं। दूसरे उन्होंने अपने इस उपन्यास के लिए एक विशिष्ट अध्ययनपूर्ण भाष्य, लगभग तीन सौ से अधिक पृष्ठों का लिखा है, जिसका उल्लेख स्वयं लेखक ने इन शब्दों में अपने 'पूर्व-निवेदन' में किया है—'उक्त भाष्य इसी उपन्यास के शारदा प्रकाशन, भागलपुर द्वारा प्रकाशित दूसरे संस्करण में देखा जा सकता है'।[14] लेखक ने अपनी इस भूमिका में

यह भी लिखा है कि उपन्यास में मेरे अपने जीवन-भर के अध्ययन का सार है।[15] जिसका 'फ़ारवर्डिंग' महामना भूतपूर्व प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने लिखा हो उसे इतनी अगंभीरता से नहीं लेना चाहिए।

4. दैत्यकुमारी और रावण का उपन्यास के प्रारंभ का मिलन 'फ़ूहड़' नहीं शृंगारिक है। 'फ़ूहड़पन' और 'श्रृंगारिकता', 'Nakednees' और 'Nudity' में अंतर न करने वाले ही ऐसा विधान कर सकते हैं। दैत्यकुमारी कहती है—"कमनीय है तू रमण, प्रिय है, प्रियतम है। आ शृंगार दे मुझे। कपोलों पर लोध्र-रेणु मल दे, कुचों को शैलेय से चित्रित कर, सघन जघन को अरविन्द-मकरन्द से सुरभित कर, चरणतल को लाक्षारंजित कर, कुन्तल वृत्त में ये शतदल कमल गूंथ, पिण्डलियों में मृणाल मसल। आ, मेरे निकट आ, परिरंभन दे मुझे, विश्रान्त कर, ओ प्रिय—प्रियतम"।[16] किस दृष्टि से यह फ़ूहड़ है?

5. 'मिथक' का तो महत्व ही इसमें है कि उसके नित्य-नवीन अर्थघटन होते रहे। लेखक ने रावण के परंपरित मिथक को तोड़ते हुए उसे नायकत्व प्रदान किया है और उसके उदात्त पक्षों को उजागर किया है। नवयुग की बँगला कविता के प्रतिष्ठाता माइकेल मधुसूदन दत्त ने पाश्चात्य एवं प्रतीच्य काव्याधारा का समन्वय करते हुए मनुष्यत्व को प्रधानता दी है। 'मेघनाद-वध' में उन्होंने रावण और उसके पुत्र मेघनाद को लेकर अपूर्व काव्य की सृष्टि की है। इस काव्य में रावण नायक है परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि राम को छोटा दिखाकर रावण को बड़ा बनाया गया है। माइकेल का मानना था कि राम तो मनुष्य हैं ही, रावण भी एक अपूर्व मनुष्य है। वह एक उदात्त-चरित्र व्यक्ति है।[17] आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने भी परंपरित मिथक को तोड़कर रावण के चरित्र को महितामंडित चित्रित करने का साहस दिखाया है और उसके लिए मार खाने की भी उनकी तैयारी है— "फ़िर अभी तो मुझे मार खानी है, जिसका निमंत्रण मैं पहले दे चुका हूं। मार तो सदैव खाता रहा हूं। इस बार का अपराध तो बहुत भारी है"।[18] भले हम बातें लोकतंत्र की करे, भले ही हमारे लोकतंत्र को साठ साल से ऊपर हो गया हो, अभी भी हमारी प्रजा का मिज़ाज 'लोकतांत्रिक' नहीं हुआ है। अपनी असहमति प्रकट करने का

अधिकार लोकतंत्र का प्राण-तत्व है, परंतु क्या हम वहां तक पहुंच पाए हैं? हरिशंकर परसाई की पिटाई को भूलना नहीं चाहिए। हम लोग यह क्यों नहीं पचा पाते कि 'रामायण' काव्य है, और फ़िर एक रामायण थोड़ी है? कितनी तो रामायणें हैं।

6. 'मैं आर्य कुलवधू हूं... रहना चाहिए। 'वाला सीता का कथन किस दृष्टि से गरिमाहीन और स्वार्थी प्रमाणित होता है? 'वयं रक्षामः' उपन्यास में जब रावण सीता का हरण करता है, उस समय का वर्णन लेखक ने इस प्रकार किया है—"सीता ने यह सुनकर क्रोध से कहा, 'अरे पतित, कुटिल, चोर, तेरा सर्वनाश उपस्थित है। जब तक आर्यपुत्र नहीं आते हैं, तू यहां से भाग जा"।[19] यहां सीता क्रोधित होकर रावण को पतित, कुटिल, चोर आदि कहती है, क्या यह सीता की गरिमा के अनुकूल नहीं है?

7. खैर, उपन्यास की जिस तरह की समीक्षा होनी चाहिए हुई नहीं है। यह सच है कि उपन्यास की भाषा कहीं दुरूह है, कठिन है, अनेक स्थानों पर तो लेखक ने संस्कृत से ही काम चलाया है— "जनक ने कहा—'श्रूयतामस्य धनुषः यदर्थमिह तिष्ठति, भूतलादुत्थिता ममात्मजा सीतेति विश्रुता वीर्यशुल्केति। एते सर्वे नृपतयो ममात्मजां वरयितुमागताः। तेषां वीर्य जिज्ञासमानानां शैवं धनुरुपाहृतम्। ये न शेकुर्ग्रहणे तस्य धनुषस्तोलने पि वा, ते अवीर्या नृपतयः प्रत्याख्याताः। तदेतद् परमभास्वरं धनुर्दर्शय रामाय। यद्यस्य धनुषो रामः कुर्यादारोपणम्, सुतामयोनिजां वीर्यशुल्कां सीतां दद्यां दाशरथये हम्"।[20] ऐसे तो अनेक स्थान हैं। अतः इसकी कटु से कटु आलोचना होनी चाहिए, क्योंकि उपन्यास हिन्दी का है, संस्कृत का नहीं है। परंतु इसके साथ ही उपन्यास में ऐसा बहुत कुछ है जो भिन्न-रुचि-संपन्न पाठकों को आकर्षित भी कर सकता है।

'वयं रक्षामः' चार सौ सत्ताइश पृष्ठ और एक सौ सत्ताइश परिच्छेदों में उपन्यस्त हुआ है। अंत में लेखक ने 'उपसंहार' भी दिया है। प्रथम दो परिच्छेदों में लेखक ने राक्षस-संस्कृति और दैत्य-संस्कृति के अंतर को स्पष्ट किया है। रावण का पितृकुल ऋषिकुल है। अतः वह स्वयं को वैश्रवण पौलस्त्य कहता है। दूसरी तरफ़ उसका

मातृकुल दैत्यकुल है। वह लंकापति सुमाली दैत्य का दौहित्र है। बालिद्विप में सुमाली के सेनापति की दैत्य-कन्या से रावण का परिचय होता है। दैत्यकुमारी रावण पर मुग्ध हो जाती है और उसके साथ रमण करती है। वह रावण से कहती है कि उसके जीवन में आने वाला वह प्रथम पुरुष नहीं है। उसके पहले कई आ चुके हैं और वह भी अंतिम नहीं होगा। उसपर रावण कहता है कि अब दूसरे नहीं आयेंगे, तब दैत्यकुमारी कहती है कि 'मैं दैत्यकन्या हूं, दैत्यबाला की यह मर्यादा नहीं है'।[21] वहां रावण कहता है—'(तेरे) ग्राम आऊंगा, पर मद्य पीने नहीं, तुझे हरण करने। 'इस पर दैत्यबाला पूछती है—'यह कैसी बात?" इसके उत्तर में रावण कहता है—'यह मेरी संस्कृति है—रक्ष संस्कृति। कुमारी का हरण हमारे लिए वैध है—हरण की हुई कुमारियां हमारी अनुबंधित होती है'।[22]

आज भी बहुत सी आदिवासी जातियों में यह प्रथा है कि कुमारी लड़कियों के प्रेम पर किसी प्रकार का कोई बंधन नहीं होता। विवाह पूर्व वह कितने ही युवकों के संपर्क में आती है। उसे वहां अनैतिक नहीं माना जाता। विवाह के बाद के विवाहेतर संबंधों को वहां क्षमा नहीं किया जाता। उसमे तीर भी चल जाते हैं।

उपन्यास 127 परिच्छेदों में विभक्त है। 66 वें परिच्छेद में 'धनुष-यज्ञ' प्रसंग आता है। उसके पूर्व कथा रावण के जन्म से लेकर उसके सार्वभौमत्व-प्राप्ति तक में केन्द्र में रावण ही रहता है। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बालि, आस्ट्रेलिया (आन्ध्रालय), लंका आदि सप्त-द्विप थे। ये सप्त-द्वीप श्रीलंका के अधीन थे। वस्तुतः वहां दैत्यकुल का राज्य था। परंतु पुलस्त्य-पुत्र विश्रवा के पुत्र कुबेर देवों की सहायता से उस पर अपना कब्जा जमा लेता है। इस अत्यंत समृद्ध का साम्राज्य का अधिष्ठता कुबेर हो जाता है। शायद इसीलिए उसे धन का देवता कहा गया है। दैत्यकुल के माली, सुमाली और माल्यवान पाताल-लोक (वर्तमान एबीसीनिया)[23] चले जाते हैं। इनमें सुमाली की पुत्री कैकसी अत्यन्त सुंदर थी। सुमाली उसे विश्रवा के पास भेजता है। विश्रवा उस पर मुग्ध हो जाते है और उसे विवाह कर लेते हैं। कै्कसी-विश्रवा का पुत्र ही रावण है जो अपने नाना के खोये वैभव-

राज्य को पुनः प्राप्त करता है। रावण एक के बाद एक प्रदेशों को जीतता हुआ निरंतर शक्तिशाली होता जाता है। यहां अनेक नृवंशों की कथा है, अनेक ऋषि-कुलों की कथा है, वसिष्ठ-विश्वामित्र की कथा है, शम्बर-युद्ध की कथा है, हैहयराज सहस्त्रार्जुन की कथा है। इसमें कई वंशो और देवासुर-संग्रामों की कथा है। कई प्रकार की संस्कृतियों, उसकी परंपराओं और रीति-रिवाजों की कथा है।

जैसा डॉ. नरेन्द्र कोहली ने बताया हे कि राक्षस कोई जाति नहीं, प्रवृत्ति है, उसके विपरित यहां शास्त्रीजी ने बाकायदा स्थापित किया है कि प्राचीन काल में राक्षस एक जाति ही थी। उसकी अपनी संस्कृति थी, परंपराएं थीं। रावण इसी राक्षस संस्कृति का सर्वशक्तिमान नेता था। उसने दक्षिण ऐशिया की सभी राक्षस जातियों को संगठित किया और इसीलिए राक्षसेन्द्र कहलाया। वस्तुतः राम-रावण युद्ध दो संस्कृतियों का युद्ध था। राक्षस-संस्कृति आर्य-संस्कृति के विरूद्ध थी। शूर्पणखा के पति विद्युतजिह्व का वध रावण इसलिए करता है कि वह राक्षस-संस्कृति को नकारता था। आर्य-संस्कृति यज्ञ-प्रधान थी। रावण यज्ञों का विरोधी था, क्योंकि यज्ञों द्वारा गरीब-निरीह प्रजा का शोषण और दोहन होता था। मिथिला के धनुष-यज्ञ से लौटकर रावण शीध्रता से अपने सार्वभौम अभियान के लिए निकल पड़ता है। नारद के कहने पर वह अपवर्त की और निकल पड़ता है। गन्धर्व मित्रावसु रावण के श्वसुर है। वहां उनकी पुत्री चित्रांगदा से मिलकर उनकी चतुरंग चमू तथा कई दिव्यास्त्र लेकर वह आर्य वीर्यवान के क्षेत्र में जा पहुंचता है। वहां इन्द्रसखा मरुत संवर्त ब्रह्मर्षि के नेतृत्व में यज्ञ कर रहे थे। रावण अपना परशु लेकर वहां पहुंचता है और उनको आह्वान देते हुए कहता है— "मैं सप्तद्वीपों का अधीश्वर पौलस्त्य रावण हूं। नृवंश में एक वैदिक रक्ष-संस्कृति की स्थापना करने के लिए मैंने सार्वभौम अभियान किया है। अब जो मेरी रक्ष-संस्कृति को स्वीकार करता है उसे अभय; जो नहीं स्वीकार करता है उसके मस्तक पर मेरा परशु है"।[24]

अपवर्त में रावण यमराज को भी पराजित करता है। तब यमराज कहता है—"अरे यह विश्रवा मुनि का पुत्र तो हिरण्यकशिपु,

नमुचि, शम्बर, धूमकेतु, बलि, वैरोचन, वृत्र, राजर्षि, गन्धर्व, उरग सभी से प्रबल ज्वलन्त सत्व प्रतीत होता है"।[25] उसके पश्चात् रावण वरुणलोक पहुंचकर वारुण्यै इन्द्रधुम्न का वध कर अपनी सास हेमा अप्सरा को छुड़ाकर अपने श्वसुर मय दानव को सुपुर्द कर देता है जिससे मंदोदरी भी खूब प्रसन्न होती है। अपने यशस्वी जामाता रावण की अभ्यर्थना के लिए मयदानव अपने सब दैत्य-दानव-असुर संबंधियों को आमंत्रित करता है जिसमें नमुचि दानव अपनी नृत्यांगना पुत्री विलासिका उसे सौंप देता है। उसके बाद कुंजरकुमार, दुरारोह, तन्तुकच्छ, मदनकेतु, सुबाहु, सुभाय, भद्रजंध आदि दानव अपनी-अपनी कन्याएं क्रमशः प्रहृष्टरोमा, कुमुदवती, प्रभावती, सुभद्रा, सुमाया, अनंगभद्रा आदि रावण को देते हैं। भद्रजंध तो अपनी दुलारी पुत्री अनंगभद्रा के साथ अन्य बारह दिव्यांगनाओं को भी देता है।[26] इस प्रकार रावण की शक्ति अपरिमित होती जाती है।

मारुतों और वरुणों के पश्चात् राक्षसेन्द्र रावण देवराट् इन्द्र के देवलोक पर धावा बोल देता है। रावण-पुत्र रथीन्द्र मेघनाद इन्द्र को बन्दी बनाकर रावण के चरणों में धर देता है। तब रावण उसे इन्द्रजीत का बिरुद देता है। [27] अमरावती सर करेने के बाद लंका में विजयोत्सव, पान-गोष्ठियां, नृत्य-विलास, दीपावलियां हो ही रही थीं कि अकस्मात रंग में भंग हो जाता है। रावण को समाचार मिलते हैं कि दण्डकारण्य में कोई राज्यच्युत आर्य राजकुमार ने राक्षस-राजनंदिनी शूर्पणखा की नाक काट ली है और जनस्थान के चौदह हजार राक्षस-रक्षकों के साथ खर-दूषण का भी वध किया है।[28] शूर्पणखा से पूरा विवरण सुनने के उपरान्त क्रोधाभिभूत रावण को मंत्री अकंपन समझाता है कि छल-बल से त्रिभुवन-सुंदरी सीता का हरण कर लिया जाय तो उसके वियोग में वे तापस मानव-कुमार यों ही रो-रोकर मर-खप जाएंगे।[29]

उसके बाद की घटनाओं में निम्नलिखित मुख्य हैं : सीताहरण, जटायु का बलिदान, सीता को अशोक-वाटिका में रखना, सीतान्वेषण, राम-सुग्रीव वार्ता, बालि-वध, हनुमान-अंगद आदि का सीता की खोज में निकल पड़ना, हनुमान द्वारा सागर संतरण, रावण

का सीता को मिलने आना, सीता-हनुमान-संवाद, हनुमान द्वारा अशोक-वाटिका में उत्पात, रावण-पुत्र अक्षयकुमार का वध, मेघनाद द्वारा बन्दी बनाकर सभा में लाना, विभीषण तथा मंत्री प्रहस्त के कहने पर कि दूत अवध्य होता है अतः लंका की गली-गली तथा राजमार्ग और चतुष्पथों पर अपमानपूर्वक पूंछ बनाकर उसे तेल में भिगोकर तथा आग लगाकर घूमाने का प्रस्ताव, हनुमान का समुद्र-तट पर पहुंचना, राम-सुग्रीव द्वारा अभियान की तैयारी, रावण द्वारा राजसभा को बुलाना, विभीषण की बातों से क्रोधित हो उसका तिरस्कार, विभीषण का राम की शरण में जाना, राम-रावण युद्ध, राम-लक्ष्मण दोनों का मूर्च्छित होकर संजीवनी द्वारा जीवित हो उठना, रावण के पुत्रों तथा महारथियों का एक-एक होकर, खेत रहना, कुंभकर्ण का वध, मेघनाद का अभिषेक, राम-रावण-रावणि युद्ध में देवराज इन्द्र का औत्सुक्य, पौलोमी शची इन्द्राणी का हेमवती शैलसुता उमा से मिलने के लिए जाना, धूर्जटि-प्रिय भगवती अम्बा को समझाना कि वे उन देवास्त्रों को प्रदान करें जिनसे कुमार कार्तिकेय ने तारकासुर का वध किया था, उमा-हेमवती का सम्मत होना पर साथ ही सावधान कर देना कि निरस्त्रावस्था में ही मेघनाद का वध हो सकता है, मेघनाद-सुलोचना अभिसार, सीता का चिंतित होना क्योंकि दुरन्त रावणि द्वारा राम-लक्ष्मण दोनों दो-दो बार मरणासन्न हो चुके हैं, विभीषण की पत्नी सरमा द्वारा सीता को आश्वासन देना, मेघनाद के तुमुल युद्ध से राम की शिविर में सबका चिंतित होना, तभी अशोकवन की रक्षिका राक्षसी सरमा किंकरी का आना और यह भेद देना कि रथीन्द्र मेघनाद इस समय एकाकी निकुम्भला यज्ञागार में निरस्त्र होकर वैश्वानर की पूजा कर रहे हैं और राघवेन्द्र साहस करें तो यही उपयुक्त योग है कि मेघनाद का वध किया जाय, विभीषण द्वारा सौमित्र लक्ष्मण को यज्ञागार तक पहुंचाना, निरस्त्र रथीन्द्र का देवास्त्रों की सहायता से लक्ष्मण द्वारा वध, रावण पर वज्रपात, रावण द्वारा अपने मंत्रि सारण को राम के पास भेजना कि सात दिन युद्ध-विराम हो ताकि वह अपने प्रियपुत्र की सत्क्रिया यथाविधि कर सके, राम द्वारा आश्वासन कि सात दिन तक

वे सैन्य-सहित शस्त्रास्त्र धारण नहीं करेंगे, सुलोचना का चितारोहण, सात दिन के शोक के बाद रावण का युद्ध के लिए तैयार होना, सात दिन-रात अनवरत राम-रावण का अप्रतिम अवर्ण्य संग्राम चलता रहा और अन्त में राम ने वह अमोध कालबाण छोड़ ही दिया जिसने रावण के हृदयदेश को विदीर्ण कर दिया।[30]

परिच्छेद 75 से 78 में लेखक ने आर्यावर्त के अनेक राजवंशों की चर्चा की है। उस कालखण्ड के परिवेश को, उसकी प्रथाओं, मातृसत्ताक समाज का पितृसत्ताक हो जाना, स्त्रियों के अधिकारों में कटौती, वीर्यदान की प्रथा जैसी कई बातों की चर्चा हुई है। राजा दशरथ, उसकी तीन रानियों, राम-लक्ष्मण-भरत के जन्म आदि की कथा, कैकेयी के विवाह के समय शुल्क की शर्त कि उसका पुत्र उत्तराधिकारी होगा, परंतु बाद में दशरथ की सोच कि राम को उत्तराधिकार मिले, कैकेयी का प्रथमतः प्रसन्न होना, परंतु मंथरा के चढ़ाने पर दशरथ से वरदानों में राम का वनगमन तथा भरत के लिए राजगद्दी की मांग करना ये सब प्रसंग यहां वर्णित है।[31]

रावण-वध के उपरान्त 'उपसंहार' में शास्त्रीजी ने राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि के पुत्रों और प्रपौत्रों की वंशावली दी है और बताया है कि कुश की पीढ़ी का अंतिम राजा श्रुतायुध तथा लव की पीढ़ी का अंतिम राजा बृहद्बल महाभारत के संग्राम में लड़े थे। राम-रावण युद्ध चौरासी दिन चला था। युद्ध फ़ाल्गुन मास में प्रारंभ हुआ था और रावण का वध वैशाख कृष्ण चतुर्दशी या अमावस को हुआ था। मेघनाद की पत्नी सुलोचना तो सती हो जाती है, पर मंदोदरी उसका अनुसरण नहीं करती है। वह विभीषण की महिषी बनना स्वीकार कर लेती है। विभीषण को लंका में सब कुलघाती के रूप में ही देखते थे। लंका का वैभव समाप्त हो जाता है।[32]

इस तरह देखा जाए तो नृवंशशास्त्र तथा पुराण (Mythology) की दृष्टि से इस उपन्यास का विशिष्ट महत्व है। भारत के प्राचीन इतिहास के विद्वानों को भी यहां महत्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध हो सकते हैं।

(3) अपने अपने राम (1992) :

सन् 1973 में डॉ. भगवानसिंह का 'महाभिषग' प्रकाशित हुआ था जिसमें बुद्ध का चरित्र अधिक मानवीय एवं तर्कसंगत रूप में निरूपित हुआ था। लगभग दो दशक बाद उनका 'अपने अपने राम' (1992) रामकथा के कतिपय चौंकानेवाले तथ्यों के साथ प्रस्तुत हुआ है। इधर 1999 में उनका 'उन्माद' नामक उपन्यास आया है जिसमें सत्ता और स्वार्थ की लड़ाई में साम्प्रदायिकता किस प्रकार ईंधन का काम करती हैं इसे भलीभांति दिखाया गया है। कुल मिलाकर उनका लेखन प्रगतिशील मानवतावादी मूल्यों को उकेरने वाला है, ऐसा कहा जा सकता है।

'अपने अपने राम' में रामकथा को एक नये अंदाज से लिया गया है। इसमें कुछेक पात्रों की मिथकीय इमेज को धक्का भी पहुंचा है। डॉ. नरेन्द्र कोहली ने जहां से रामकथा को छोड़ा है, ठीक उसी बिन्दु से डॉ. भगवानसिंह ने कथा को एक नया मोड़ दिया है। डॉ. कोहली ने भरत के चरित्र को उसी रूप में लिया है जिस रूप में वह रामायण में आया है। गोस्वामी तुलसीदास ने तो भरत की भक्ति को 'चातकवत्' बताया है और डॉ. बलदेवप्रसाद मिश्र ने उसे साकेत-संत' का बिरुद दिया है, वही भरत यहां लगभग 'जड़ भरत' के रूप में आया है।[33]

डॉ. कोहली की रामकथा में संघर्ष राम और रावण के बीच है, यहां संघर्ष राम और वसिष्ठ के बीच है, यहां संघर्ष वसिष्ठ की ब्राह्मणवादी सोच और उसके प्रचारतंत्र से है। उपन्यास में एक स्थान पर कहा गया है—"अयोध्या नरेश राम को जितने लोग जानते हैं उससे अधिक लोग वसिष्ठ को जानते हैं; और अयोध्या नरेश के विषय में भी वे अच्छा-बुरा जो कुछ जानते हैं वह इनके ही माध्यम से जानते हैं। ... प्रचार तंत्र अपने आप में सैन्यशक्ति से कम शक्तिशाली नहीं होता और जब तब तो अधिक शक्तिशाली होता है। तुम क्रुद्ध होकर वसिष्ठ का वध तो कर सकते हो, पर एक बार उसका प्रचार तो दूर, संदेह तक हो जाने पर पूरे साम्राज्य में हलचल मच

जाएगी। इससे तुम्हारा शासन भी उलट सकता है। बचने का एक ही उपाय है, भारी प्रतिदान। महायज्ञ। वसिष्ठ ने एक बार कहा था, 'वृत्र जैसे कुख्यात ब्राह्मण का वध करने पर इन्द्र तक को अश्वमेघ करना पड़ा था' "।[34]

'अपने अपने राम' की रामकथा का प्रारंभ राम के पुनरागमन से होता है। वनवास की अवधि के समाप्त होने पर राम पुनः अयोध्या आ रहे हैं, और अधिक शक्तिशाली, अधिक सम्मानित, अधिक सुपूजित रूप में आ रहे हैं। कैकेयी और वँसिष्ठ ने सोचा था कि ये लोग वन में ही कहीं मर-खप जायेंगे। सीताहरण और राम-रावण युद्ध भी इन्हीं के इशारों पर हुआ था। अतः राम के आगमन पर प्रसन्न्ता का नाटक किया जाता है, राम के स्वागत की तैयारियों में राजकोष को लुटाया जा रहा है। यह सब वसिष्ठ कर रहे हैं क्योंकि रिक्त राजकोष से राम को शासन चलाने में कठिनाइयां आ सकती हैं। वसिष्ठ अपने अति-व्यय की निति कैकेयी को समझाते हुए कहते हैं'— "महारानी, किसी राजा की शक्ति और प्रताप का स्त्रोत उसकी शारीरिक शक्ति और प्रताप नहीं है। यह उसके कोष की शक्ति है। उसीसे वह अपने प्रबंधकों और सैनिकों की सेवाएं प्राप्त करता है। उसीसे वह ब्राह्मणों की कृपा प्राप्त करता है। कोष रिक्त होने पर जब राम इन्हें समय पर वेतन नहीं दे पायेंगे तो उनके ही राजकर्मी और सैनिक या तो उनके विरुद्ध विद्रोह कर देंगे या प्रजा को लूट्ना आरंभ कर देंगे और चारों और त्राहि-त्राहि मच जाएगी"।[35]

डॉ. नरेन्द्र कोहली ने रामायण के उत्तरकांड की कथा को छोड़ दिया है। जिन दो प्रसंगों के कारण राम-चरित्र कुछ लांछित होता है, वे दो प्रसंग हैं—सीता का त्याग और शम्बूक-वध। डॉ. भगवानसिंह ने इन दोनों घटनाओं का परिष्कार रचनात्मक-बुद्धि के साथ किया है। वसिष्ठ और कैकेयी राम को अयोध्या की राजसत्ता से दूर रखने में जब नाकामयाब रहते हैं तब वे कूटनीति का सहारा लेते हैं कि बेजार होकर राम पुनः राज-गद्दी का परित्याग कर दें। इसलिए वे अपने प्रचारतंत्र को काम पर लगाते हैं कि सीता के बारे में इतना प्रवाद उत्पन्न किया जाय कि राम सीता का परित्याग कर दें या

फ़िर राजसत्ता को ही आखिरी सलाम कर जाए। कैकेयी को ज्ञात है कि राम सीता को खूब चाहते हैं अतः सीता का परित्याग करने पर राम की शक्ति खंड़ित हो जाएगी, और यदि राम सीता का परित्याग नहीं करते हैं तो प्रजा की नजर में वे गिर जाएंगे। अतः रजक वाली बात या तो पैदा की जाती है या उसे अनावश्यक तूल देकर बड़ा रूप दिया जाता है। यथा—

"पर कुछ समय बाद ही सीता के विषय में प्रवाद फ़ैलने लगा था। उनका अपहरण करके रावण उन्हें लंका में उठा ले गया था। वहां वह अपने सतीत्व की रक्षा कैसे कर पाई होंगी? ऐसी सीता को अपनी महिषी बनाकर राम ने एक निंदनीय कार्य किया था। यदि एक सतीत्व-भ्रष्ट स्त्री को राजा ही सम्मान देगा तो समाज में स्वैराचार तो फ़ैलेगा ही। सामाजिक मर्यादा नष्ट होने पर तो पूरा समाज ही विकृत हो जाएगा"।[36]

डॉ. भगवानसिंह ने इस घटना को एक नया मोड़ दिया है ताकि बदनामी का ठिकरा उनके सिर पर न फ़ूटे। महर्षि विश्वामित्र को इस बात की भनक पड़ जाती है, अतः वे अयोध्या आते हैं और राम को सभी स्थितियों से अवगत करते हैं। वे राम को समझते हैं कि प्रवाद तुषाग्नि की तरह होता है और उससे बड़े-से-बड़े साम्राज्य भी जलकर राख हो जाते हैं। राजा का न्यायप्रिय होना ही पर्याप्त नहीं है, लोगों को दिखना चाहिए कि राजा न्यायप्रिय और धर्मप्रिय है। तब राम प्रश्न करते हैं कि क्या गुरुदेव भी सीता की अग्निपरिक्षा को उचित मानते हैं, तब विश्वामित्र कहते हैं कि अबकी बार अग्निपरिक्षा राम की होगी। "आपको सीता को कुछ समय के लिए अज्ञातवास में रखना होगा। तुषाग्नि के ऊपर चुपचाप एक हिमशीला रख देनी होगी"।[37]

राम तो प्रवाद के कारण राज्यसत्ता छोड़ने के लिए भी उद्यत हो जाते हैं, पर विश्वामित्र उनको समझाते हैं कि "यदि राज्य सुख और सत्ता का भोग होता, महाराज, तो आप एक हजार गांवों की उस संपत्ति का भी त्याग करके संन्यास या वनवास लेना चाहते तो भी मुझे प्रसन्नता होती। ... परंतु आप जैसे राजा के लिए राज्य भोग

का नहीं, महातप की पीठ है, महाराज, प्रजा सुखी रहे, देश सुरक्षित रहे, इसके लिए ऐसे राजा स्वयं बड़े से बड़ा कष्ट उठाते और अपने प्राणों तक को उत्सर्ग करने को तत्पर रहते हैं। ... इन कुचक्रियों का सामना धैर्य और विवेक से करना होगा, महाराज, यह एक लम्बी लड़ाई है और इसमें अग्निपरीक्षा सीता की नहीं, महाराज की होनी है। अभी तो महाराज को सीता के गुप्तवास के लिए भी तैयार होना है। यही अपने आपमें एक परीक्षा है"।[38]

इस प्रकार विश्वामित्र से मिलकर वाल्मीकि-आश्रम में सीता को रखने की व्यवस्था हो जाती है। वाल्मीकि आश्रम में ही सीता लव-कुश को जन्म देती है। यहाँ वसिष्ठ, वाल्मीकि, विश्वामित्र और अगस्त्य जैसे तत्कालीन ऋषि-मुनियों की विचारधाराओं पर भी विचार किया गया है। उपन्यास के अन्त में सीता की वापसी का प्रसंग संक्षिप्तता के साथ व्यंजित हुआ है। राम के आदेश पर जब लक्ष्मण और शत्रुघ्न सीता को लेने के लिए वाल्मीकि आश्रम जाते हैं तब वह अयोध्या लौटने के लिए साफ़ इन्कार कर देती है। वाल्मीकि का आदेश वह नहीं मानती। परंतु "जब आए स्वयं महाराज राम, महाराज बनकर नहीं। एक याचक बनकर। क्षमाप्रार्थी बनकर... (तो) वह उनके चरणों में समर्पित हो गयीं, 'मेरा मान रख लिया आपने, महाराज' "।[39]

इसी तरह शम्बूक-वध वाले प्रसंग को भी लेखक ने रचनात्मक मोड़ दे दिया है। राजमाता के आदेश पर ऋषिसभा का आयोजन होता है। उसमें आर्यावर्त के सभी ऋषि अपने शिष्यों के साथ आते हैं। अगस्त्य ऋषि भी अपने शिष्य शम्बूक को लेकर आये हैं। वहां वर्ण-व्यवस्था को लेकर अप्रिय चर्चा छिड़ जाती है। वसिष्ठ के एक प्रश्न के उत्तर में शंबूक अपना अभिप्राय व्यक्त करता है— "तात्पर्य बहुत स्पष्ट है, महर्षि, जन्म से धर्म का निर्धारण नहीं हो सकता। ब्राह्मण कुल में जन्म लेनेवाले सभी व्यक्तियों में ब्राह्मण बनने की योग्यता नहीं होती और वे शूद्रवत आचरण करते हैं। कुछ वैश्यवत दिन-रात हानि-लाभ की ही सोचते हैं। कुछ क्षात्र-धर्म अपना लेते हैं। ठीक यही बात क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों पर भी घटित होती

हैं। ऐसे शूद्र भी हो सकते हैं जो तेजस्वी हों और ब्रह्मत्व को प्राप्त कर सकें या संकट की घड़ी में देश और समाज की रक्षा कर सकें। अतः महाराज यदि यह मानते हैं कि सभी मनुष्य जन्म से शूद्र होते हैं और संस्कार से ही द्विज बनते हैं तो उनका यह विश्वास कि ऐसा संस्कार प्राप्त करने का सभीको अधिकार है, न तो धर्म-विरूद्ध है न वर्ण-विरूद्ध, न ही समाज विरूद्ध।"[40]

जब शम्बूक बोल रहा था उस समय वसिष्ठ का एक शिष्य उनके कान में कुछ कह जाता है, जिससे उनकी आंखों में एक विशिष्ट चमक उभरती है और वे पूछते हैं—'तुम्हारी धर्म-दृष्टि तो बड़ी विलक्षण है, तरुण। तुम्हारा नाम-गोत्र क्या है?"[41] उसके उत्तर में शम्बूक़ कहता है—"मुझे शम्बूक कहते हैं और मैं महर्षि अगस्त्य का शिष्य हूं"।[42] किन्तु इतने मात्र से वसिष्ठको संतोष नहीं होता, अतः वे उसे उसका गोत्र पूछते हैं। इसके उत्तर में शम्बूक कहता है—"किसी शिष्य का गोत्र तो उसके गुरु से ही जाना जा सकता है, और महर्षि, आप उसे जानते हैं। यदि गोत्र के बहाने जाति में जिज्ञासा हो तो मैं शूद्र कुलोत्पन्न हूं"।[43] शम्बूक के इस कथन पर सन्नाटा-सा छा जाता है। तब वसिष्ठ-पुत्र शक्ति कहता है—"हमारे निमंत्रण में कहीं यह गर्भित नहीं था कि ऋषिगण अपने शिष्यों के कुल-शील का विचार किए बिना ही..."[44]

अपने और अपने गुरु का निरादर होता देख शम्बूक अपना आपा खोते हुए कहता है—"किस कुल-शील की बात करते हो वासिष्ठ! मुझे यह तो पता है कि मैं शूद्रजात हूं, यहां उपस्थित ऋषियों में बहुतों को तो अपने पितृत्व तक का ज्ञान न होगा। अपनी स्वच्छंदता के कारण किसी भी वर्ण और जाति को तो छोड़ते नहीं आप लोग और आप ही से शिक्षा लेकर आपकी पत्नियां जब कुछ करने लगती हैं तो आप लोग 'गुरुतल्पगामिता' का भय दिखाकर उन्हें उसी तरह डराने का प्रयत्न करते हैं जैसे किसान धोखे खड़े करके फ़सल को जानवरों और पक्षियों से बचाने का प्रयत्न करता है। पर कुछ लाभ होता है क्या? सुनो वासिष्ठ, इस समाज में या तो कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र है नहीं, या सभी ब्राह्मण हो चुके हैं। यदि वर्ण

का अनुराग सता ही रहा हो तो श्रेष्ठ ब्राह्मण तो अब्राह्मणों में ही मिलेंगे। वृक्ष की प्रकृति तो बीज से निर्धारित होती है, क्षेत्र से नहीं। आप तो क्षेत्रज ब्राह्मण हैं"।[45]

वहां बैठ ब्राह्मण-समाज तो काटो तो खून नहीं वाली स्थिति में आ जाता है। अगस्त्य शम्बूक को लेकर वहां से चल पड़ते हैं। तभी ब्राह्मणीय छल-छद्मपूर्ण प्रचारतंत्र द्वारा कहानी गढ़ ली जाती है कि कल्मलीक ब्राह्मण के पुत्र की प्राणरक्षा हेतु महाराज ने अगस्त्य-आश्रम जाकर शम्बूक का वध कर डाला। वस्तुतः वसिष्ठ-पुत्र शक्ति आघात से संशयाग्रस्त पिता के विषाद को दूर करने के लिए कहता है—"महाराज ने यह सुनकर कि कल्मलीक के पुत्र की प्राणरक्षा शम्बूक के वध से संभव है, तत्काल सभा त्याग किया और दिव्य रथ से अगस्त्य के आश्रम में पहुंचकर उसका वध कर दिया और इसके साथ ही उस मृत बालक के शरीर में प्राण संचार आरंभ हो गया"।[46]

इस प्रकार जिन दो प्रसंगों से राम-चरित्र की छवि धूमिल होती थी उनका परिष्कार लेखक अपनी औपन्यासिक सूझ-बूझ के साथ करता है। रावण का चरित्र यहां एक दस्यू व्यापारी के रूप में हुआ है। कैकेयी के चरित्र में पुरुष जाति के प्रति वितृष्णा का भाव मिलता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रेम-वंचिता नारी घायल शेरनी की भांति सत्ता की प्यासी हो जाती है और सत्ता-प्राप्ति के लिए वह किसी भी हद तक जा सकती है। भरत कैकेयी और वसिष्ठ के हाथों की कठपुतली-सा प्रतीत होता है।

घट्नाक्रम की दृष्टि से उपन्यास की कथा उत्तरकांड की है, परंतु स्मृतियों और यादों के द्वारा रामायण की कथा भी प्रच्छन्न रुप से आयी है। इसमें निरुपित संघर्ष राम और वसिष्ठ का संघर्ष तो है ही, साथ में यह विश्वामित्र और वसिष्ठ, वशिष्ठ और अगस्त्य, वसिष्ठ और वाल्मिकि, आर्य और अनार्य जातियों के जीवन-मूल्यों का संघर्ष भी है। रावण का चरित्र एक दस्यू-व्यापारी के रूप में यहां आया है।

अंत में राजेन्द्र यादव के शब्दों में कहा जा सकता है— "उपन्यास की रोचकता, कथा-कौशल, संवादों की अर्थ-गर्भी और वैचारिक तैयारी इसे एक बेहद पठनीय रचना बना देते हैं। श्रद्धा की खाइयों में लगभग व्यवसायिक, राजनैतिक, तिरस्कृत और अपठनीय बनाकर डाल दी गयी राम-कथा के इस 'उद्वार' के लिए भगवानसिंह को बधाई दी जानी चाहिए और दसियों बरसों के बाद किसी रचनात्मक किताब के बहाने अपनी बात कहने के लिए नामवरजी को धन्यवाद"।[47]

राजेन्द्र यादव के उक्त कथन में डॉ. नामवर सिंह का भी उल्लेख हुआ है। नामवरजी ने उपन्यास के संदर्भ में यह कहा था—" 'अपने अपने राम' वस्तुतः एक विशाल षडयंत्र कथा है जिसका ताना-बाना लेखक ने बड़ी बारीकी से बुना है। इसलिए अतिपरिचित कथा में भी आदि से अंत तक कुतूहल बना रहता है और बहुत कुछ 'डिटेक्टिव' का-सा मजा आता है। वसिष्ठ के जासूस हर जगह है"।[48]

(4) प्रथम पुरुष (1990) :

डॉ. भगवतीशरण मिश्र ने सामाजिक ऐतिहासिक एवं पौराणिक उपन्यास दिए हैं। 'एक और अहल्या', 'नदी नहीं मुड़ती', 'सूरज के आने तक' आदि उनके सामाजिक उपन्यास हैं। 'पहला सूरज' छत्रपति शिवाजी के जीवन पर आधारित ऐतिहासिक उपन्यास है। इसके अतिरिक्त 'पीतांबरा' तथा 'देख कबिरा रोया' और 'काके लागं पावं' आदि इनके जीवनीमूलक ऐतिहासिक उपन्यास क्रमशः मीरांबाई, कबीरदास और गुरु गोविन्दसिंह के जीवन पर आधृत है। इन्होंने पौराणिक उपन्यास भी लिखे हैं। उनके पौराणिक उपन्यासों में 'प्रथम पुरुष', 'पुरुषोत्तम' और पवनपुत्र को उल्लेखनीय कहा जा सकता है।

डॉ. मिश्र का 'प्रथम पुरुष' उपन्यास कृष्ण के जीवन पर आधारित है। अपने अन्य उपन्यासों की भांति यहां भी विद्वान लेखक ने उपन्यास के प्रणयन के लिए अनेक ग्रन्थों का आधार लिया है

जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं — श्रीमदभागवत, गीता, महाभारत, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, गर्गसंहिता आदि-आदि।[49]

'प्रथम पुरुष' तथा 'पुरुषोत्तम' में उन्होंने कृष्ण-चरित्र का निरूपण किया है। इन दोनों उपन्यासों में निरूपित कृष्ण-चरित्र को लेकर लेखक स्वयं कहते हैं — मैंने इस पुस्तक में कृष्ण को भगवान के रूप में न लेकर मनुष्य के रूप में लेने का प्रयास किया है। यह बात पृथक है कि वह मनुष्य शनैः शनैः मनुष्यत्व को लांघता हुआ देवत्व और अन्ततः ईश्वत्व को प्राप्त कर लेता है। इस पुस्तक के प्रणयन के समय मेरा दृष्टिकोण स्पष्टतः यह रहा है कि भगवान पैदा नहीं होता बल्कि बनता है। राम को भी भगवान मानें तो राम भगवान के रूप में पैदा नहीं हुए थे अपितु उनके कर्तव्यों—उनकी वीरता, उनके शौर्य, उनका त्याग, उनके दैवी गुणों—ने उन्हें धीरे-धीरे भगवान बनाया। आज लोग बुद्ध, महावीर, ईसा (क्राइस्ट) को भी भगवान मानने लगे हैं। ये सारे ऐतिहासिक पुरुष हैं और मनुष्य से भगवान बने हैं। न कि भगवान बनकर ही पैदा हुए"। [50]

नर से नारायण की उर्ध्व गति का विचार ही मानवीय गरिमा को बढ़ाने वाला है। लेखक के अग्रिम चिंतन की पहचान भी यही है कि उन्होंने कृष्ण के उस रूप को लिया है जो उन्हें हमारी परंपरा का महानायक सिद्ध कती है।

कृष्ण के दो स्वरूप हमारे सामने आते हैं—एक तो गोपीजनवल्लभ, गोकुल वृन्दावन के कृष्ण, जो बांके-बिहारी है, रसिक-शिरोमणि हैं और गोपियों के साथ रास रचाते हैं। हिन्दी के मध्यकालीन भक्तिकाव्य में यही स्वरूप है। सूरदास के कृष्ण यही हैं। दूसरे हैं महाभारत के कृष्ण, द्वारिकाधीश कृष्ण जो उस युग के महान योद्धा और बड़े ही नीति-निपुण कुशल राजनीतिज्ञ हैं। इस संदर्भ में डॉ. रामधारीसिंह अपने इतिहास-ग्रन्थ 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखते हैं—

"कृष्ण ऐतिहासिक पुरुष हैं, इसमें संदेह करने की कोई गुंजाईश नहीं दिखती और वे अवतार के रूप में पूजित भी बहुत दिनों से चले आ रहे हैं। उनका संबंध फ़सल और गाय से था, यह भी विदित बात है। प्राचीन ग्रन्थों में उनके साथ प्रेम की कथाएं नहीं मिलतीं, उससे भी यही प्रमाणित होता है कि वे कोरे प्रेमी और हल्के जीव नहीं थे, बल्कि देश और धर्म के बहुत बड़े नेता थे। अवश्य ही गोपाल-लीला, रासलीला और चीर-हरण की कथाएं तथा उनका रसिक रूप बाद के भ्रान्त कवियों और आचारच्यूत भक्तों की कल्पनाएं हैं, जिन्हें इन लोगों ने कृष्ण चरित में जबरदस्ती ठूंस दिया। शकों के ह्रासकाल में जिस प्रकार महादेव का रूपान्तर लिंग में हुआ, उसी प्रकार, गुप्तों के अवनतिकाल में वासुदेव का रूपान्तर व्यभिचारी गोपाल में हुआ"।[51]

डॉ. मिश्र ने प्रस्तुत उपन्यास में कृष्ण के जन्म से लेकर उनके मथुरागमन तक की और कंस-वध तक की घटनाओं को लिया है, परंतु उन्होंने भी कृष्ण के उस रसिक-शिरोमणि वाले रूप को न लेकर एक वीर नटखट बालक के रूप में उनका चित्रण किया है। इस संदर्भ में उनका कथन है—"स्थिति आज यह है कि जो कोई भी स्वेच्छाचारी, कामुक, वारांगनाओं से घिरा हुआ पाया जाता है, उसे लोग कृष्ण की संज्ञा दे देते हैं। यह उनकी अज्ञानता के अलावा कुछ भी नहीं है। रासलीला का उल्लेख श्रीमदभागवत में ही आता है और यह स्पष्ट है कि ग्यारह वर्ष से अधिक आयु तक कृष्ण वृन्दावन में रहे ही नहीं। वे मथुरा प्रस्थान कर गए, कंस का वध किया और फ़िर आगे के कार्य-कलापों में लग गए। अब यह सोचने की बात है कि ग्यारह साल का बालक, जो रासलीला करता है उसकी प्रकृति कैसी होगी? जो लोग रासलीला में काम-वासना को ढूंढते हैं, वे अपनी कामुकता को ही एक किशोर पर आरोपित करने के अपराध के सिवा और कुछ नहीं करते। अगर भागवतकार ने भी एकादशवर्षीय कृष्ण की रासलीला पर केलि-क्रीडा का रंग चढ़ाने का प्रयास किया है तो वह भी इसी अपराध का भागी बनता है"।[52]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने भी अपने ग्रन्थ 'मध्यकालीन धर्म-साधना' में लिखा है कि कृष्णावतार के दो रूप मुख्य हैं। एक में यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न हैं, वीर हैं, राजा हैं, कंसारि हैं। दूसरे में वे गोपाल हैं, गोपीजन-वल्लभ हैं, 'राधाधर-सुधापान-शालिवनमालि हैं'। प्रथम रूप का पता तो पुराने ग्रन्थों से चल जाता है, पर दूसरा रूप अपेक्षाकृत नवीन हैं।[53] इससे यही प्रमाणित होता है कि प्राचीन साहित्य में श्रीकृष्ण की शृंगार-लीलाओं का वर्णन नहीं मिलता है, निश्चय ही मध्यकाल में, भक्तिकाल में, हुआ है।

डॉ. मिश्र ने उक्त दोनों रूपों का प्रयोग बड़े संयत सधे हुए ढंग से किया है। 'प्रथम पुरुष' में वे कंसारि हैं, तो 'पुरुषोत्तम' में वे सुदर्शन-चक्रधारी और गीता के उदघोषक हैं। मिश्रजी के कृष्ण गोपाल हैं, गोपीजन-वल्लभ भी हैं, नंद-जशोदा और गोप-गोपिकाओं के दुलारे और ब्रज की आंखों के तारे भी हैं, परंतु उनका शारीरिक मांसल प्रेम वहां नहीं है, नहीं हैं उनकी काम-क्रीडाएं, नहीं हैं वे अनर्गल लंपट लीलाएं क्योंकि वृन्दावन में वे केवल ग्यारह साल की अवस्था तक ही रहे थे और आठ-दश साल का बच्चा यह सब नहीं कर सकता। परंतु जिस तरह कोई नटखट सुंदर स्वस्थ चंचल बालक सबका मन हर लेता है, सबकी आंखों का तारा बन जाता है, ठीक उसी प्रकार यहां कन्हैया ब्रज के लोगों का लाड़ला-दुलारा बच्चा है। दूसरे यह प्राचीनकाल की ग्रामीण संस्कृति है जहां इस प्रकार का बच्चा सबको प्यारा लगने लगे इसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं लगती। तीसरे नंद-जशोदा सामान्य नहीं थे। नंद ब्रज-मंडल के मुखिया थे। राधा के पिता वृषभानु भी अपने क्षेत्र के सम्मानित व्यक्ति थे।

राधा भी यहां परकीया नहीं है। कृष्ण के साथ बाकायदा उसकी सगाई हुई है। वह कृष्ण से सिर्फ दो ही साल बड़ी है। वहां के यादव-अहीर समाज में यह कोई बड़ी बात नहीं है। उनके समाज में बच्चों की सगाई भी जल्दी हो जाती है और कई बार बाद में टूट भी जाती है। राधा के पिता बरसाना (बृहत्सानुपुर) के मुखिया हैं। बाद में अपनी लाड़ली बेटी के भविष्य की चिन्ता करके वह उस सगाई को

तोड़ भी डालते हैं क्योंकि उनको ज्ञात हो जाता है कि मथुरा-नरेश कंस कृष्ण को मरवा देना चाहता है।

राधा-कृष्ण की सगाई टूट जाती है मगर उनका अशरीरी प्रेम अखंड रहता है। राधा आजीवन अविवाहित रहने का प्रण लेती है। इस प्रकार वह कृष्ण की प्रेरणा—ह्लादमयी शक्ति बन जाती है। स्वयं लेखक राधा के संदर्भ में बताते हैं—

"मेरी राधा न तो परकीया है, न कृष्ण की विवाहिता, न उसकी शैय्या-संगिनी, वह मात्र उनकी प्रेरणा है, उनकी आह्लादिनी शक्ति, उनकी सर्वस्व। दोनों में प्रेम है, किन्तु वह मांसल नहीं है और न है वह पार्थिव। मेरे राधा-कृष्ण में द्वैत है ही नहीं, न ही लिंग-भेद। वे एक-दूसरे को स्त्री-पुरुष के रूप में न देखकर मात्र राधा और कृष्ण के रूप में देखते हैं। मेरी राधा ही कृष्ण है और मेरा कृष्ण ही राधा।"[54] डॉ. पारुकान्त देसाई के गीत की पंक्तियां कानों में गूंजने लगती है"—पारु! प्रिये तुम प्राण हो, मैं कृष्ण तो तुम राधिका, मैं राधिका तुम क्हान हो।"[55]

प्रस्तुत उपन्यास 383 पृष्ठ तथा छिहत्तर अध्यायों उपन्यस्त हुआ है और उसमें कृष्ण-जन्म से लेकर कंस-वध तक की घटनाएं निरूपित हैं। उपन्यास की मुख्य घटनाएं इस प्रकार हैं—देवकी-वसुदेव का विवाह, दिव्य आकाशवाणी का होना के इनकी आठवीं संतान कंस की मौत का कारण बनेगी; अतः कंस द्वारा उन दोनों को कारागार में डाल देना; पहरेदारों को भुलावे में डालकर वसुदेव की दूसरी पत्नी रोहिणी का एक रात कारावास में आना; उस सहवास से बलराम का पैदा होना; कारावास में देवकी-वसुदेव की सभी संतानों की कंस द्वारा हत्या; आठवीं संतान के समय पहरेदारों पर गहरी नींद का छा जाना; गलती से कपाटों का खुला रह जाना और फ़लतः वसुदेव द्वारा कृष्ण को गोकुल नंदबाबा के यहां पहुंचा देना और उनकी सद्यजात पुत्री को बदले में उठा लाना;[56] गोकुल में जन्मोत्सव, जशोदा की बालकी का कंस द्वारा वध, पुनः आकाशवाणी का होना कि कंस का काल अवतरित हो चुका है और फ़लतः कंस का भय-विह्वल रहना; मथुरा के आसपास के सभी नवजात शिशुओं को मरवा देना; गर्गाचार्य द्वारा

कृष्ण तथा बलराम का नामकरण तथा भविष्य-कथन; कृष्ण-बलराम का बढ़ना; पूतना, शकटासुर, तृणावर्त आदि का वध; जशोदा के साथ कृष्ण की अठखेलियां;[57] वृषभानु का नंदबाबा के यहां आना और राधा तथा कृष्ण की सगाई की बात चलाना; राधा का कृष्ण को लेकर यमुना जाना; वहां उसकी प्रेरणा बनने की बात करना;[58] कृष्ण को खूब मक्खन खाकर शरीर को पुष्ट बनाने का परामर्श ताकि भविष्य में आततायी कंस का मुकाबला कर सके; कृष्ण और बलराम द्वारा एक बाल-सेना का निर्माण, माखन-चोरी करके सब साथियों को खूब खिलाना; सबको मल्ल-युद्ध तथा कुस्ती के दांव-पेच सीखाना; बलराम के द्वारा कृषि का अभियान छेड़ना; राधा का कृष्ण की छवि को प्यार करना; राधा और ललिता का सख्य;[59] कृष्ण की शरारतों से ब्रज की गोपियां का परेशान रहना और माता जशोदा से उसकी फ़रियाद करना; श्रीदामा की माता प्रभामति का जशोदा के पास कान्हा की फ़रियाद लेकर आना पर बुद्धू बनना; गर्गाचार्य का पुनः आना और नंद को परिवार-सहित वृन्दावन जाने का परामर्श देना; वृषभानु का राधा-कृष्ण को लेकर चिंतित रहना और उसकी सगाई तोड़ने का विचार करना; राधा की प्रतिज्ञा, कालीयनाग का दमन, गोवर्द्धन-पूजा का प्रचलन शुरु करना, फ़लतः इन्द्र का कुपित होना, कृष्ण द्वारा सबका बचाव जैसी घटनाएं यहां तक में उपन्यस्त हुई है।[60]

कंस का डर बढ़ता ही जाता है। कृष्ण को मरवाने के उसके सारे प्रयत्न विफ़ल होते हैं। वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, धेनकासुर जैसे कंस के बलवान और सुप्रसिद्ध मल्ल एक-एक करके कृष्ण के हाथों मारे जाते हैं। प्रत्येक घटना कंस को भयग्रस्त करती जाती है। फ़लतः वह धनुष-यज्ञ के बहाने कृष्ण को आमंत्रित करना चाहता है। वहां चाणुर या मुष्टिक या कुवलयापीड़ हाथी के द्वारा कृष्ण को मरवाने का षड़यंत्र वह रचता है। कृष्ण को बुलाने के लिए अक्रूर को भेजा जाता है। कृष्ण और बलराम अक्रूर के साथ मथुरा जाने के लिए निकल पड़ते हैं। नंद, जशोदा, वृन्दावन के लोग, गोपियाँ आदि रोते-कलपते हैं। राधा की भी रो-रोकर बुरी हालत हो जाती है। उधर कृष्ण और बलराम मथुरा पहुंच जाते हैं। सबसे पहले वे कुब्जा का उद्धार

करते हैं। फ़िर वे दोनों भाई रंगशाला में प्रवेश करते हैं। कृष्ण और कुवलयापीड में मूठभेड़ होती है। उसमें कुवलयापीड की हार होती है। फ़िर चाणूर और मुष्टिक की क्रमशः कृष्ण और बलराम से भिडन्त होती है। कंस के उन दोनों मल्लो की उनके हाथों मृत्यु होती है। कंस भागने की चेष्टा करता है, परन्तु कृष्ण उसको धर दबोचते है और कृष्ण के हाथों उसका वध होता है। उधर कंस के सेनापति दुर्धर्ष की बलराम के हाथों मौत होती है। कृष्ण और बलराम के जयघोष के साथ ही मथुरा के लोगों में आनंद और उमंग की लहर-सी दौड़ पड़ती है। नाना उग्रसेन को मुक्त किया जाता है और उनका राज्याभिषेक होता है। देवकी-वसुदेव के आनंद का भी कोई ठिकाना नहीं रहता है। इस प्रकार आनंद-उमंग और उत्सव के वातावरण में उपन्यास समाप्त होता है।

उपर्युक्त घटनाओं के समानान्तर कंस के दरबार की राजनीति को भी चित्रित किया गया है। कंस की दमन-नीति के कारण प्रजा में उसका विरोध बढ़ता जा रहा था। महाराज उग्रसेन के पुराने अमात्य सुधर्म प्रजा को जाग्रत करने का कार्य करते हैं। सुधर्म का गुप्तचर विभाग बराबर कार्यरत रहता है। फ़लतः सुधर्म और मारुत एक हो जाते हैं। वे लोग कंस को उसके महाअमात्य विकट से दूर कर देते है। दुर्धर्ष की सत्ता-लालसा का भी उपयोग किया जाता है और कूटनीतिक चालों से कंस की सत्ता को भीतर-ही-भीतर से कमजोर करने के प्रयत्न होते हैं जिससे अवसर आने पर प्रजाजन तथा राज्य-कर्मचारी कृष्ण और बलराम का साथ दें। धनुष-भंग कैसे होगा उसकी युक्ति भी मारुत कृष्ण को बता देता है। जिस प्रकार डॉ. नरेन्द्र कोहली ने राम से शिव-धनुष भंग करवाया था, लगभग वही पद्धति यहां भी देखी जा सकती है।

बलराम के द्वारा लेखक भारत की सांस्कृतिक एकता और अखंडता की बात भी करते हैं—"इसी बहाने मैं इस आर्यभूमि के सारे तीर्थों का भी परिभ्रमण कर लूंगा। राष्ट्रीय एकता और अखंडता के प्रतीक ये तीर्थ शताब्दियों से समग्र राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोने का प्रयास करते आये हैं पर यह हमारी मूर्खता है कि आज हम इस

पवित्र धरती को टुकड़ो में बांट रहे हैं—कहीं मथुरा तो कहीं मगध, कहीं चेदी तो कहीं काशी, कहीं अवन्तिका तो कहीं विदर्भ।"[61]

पशुपालन और कृषि के द्वारा भारत-भूमि को धन-धान्य-पूरित बनाने की इन दो भाइयों की योजना पर भी लेखक ने प्रकाश डाला है—"पूरे राष्ट्र में घूम-घूम कर मुझे हल के महत्व को, धरती के महत्व को, कृषि-कार्य के महत्व को समझाना है। रत्नगर्भा ही नहीं, अन्नदा भी है यह धरती। पर लोगों की उपेक्षा से उसका अधिकांश भग बंजर, बियाबान और व्यर्थ पड़ा है। वन्ध्या हो आई है यह। सिंचाई के साधनों के अभाव में भी अन्न के पौधे समय से पूर्व ही सूख जाते हैं। ऐसे असंख्य हल होंगे लोगों के हाथ में। आज के युग में इससे बड़ा कोई औजार नहीं कृषि-कार्य के लिए। हम इससे धरती को कर्षित तो करेंगे ही, नदियों के किनारे काट नहरें भी बनायेंगे। व्यर्थ बहे जा रहे जल को खेतों, उद्यानों तथा उपवनों तक पहुंचायेंगे।"[62]

इस प्रकार कृष्ण जहां गोपालन और पशुपालन की बात करते हैं, वहां बलराम कृषि-उद्योग की बात करते हैं। इस तरह हरित-क्रान्ति और श्वेत-क्रान्ति की बात यहां प्रस्तुत है। राधा और कृष्ण का प्रेम अशरीरी प्रेम है और इसके द्वारा कृष्ण और राधा शायद संसार को यह संदेश देना चाहते हैं कि स्त्री और पुरुष के बीच पति-पत्नी के अलावा सख्यता का संबंध भी हो सकता है, दोस्ती का सम्बन्ध भी हो सकता है।

(5) पुरुषोत्तम (1990) :

'पुरुषोत्तम' की कथा 'प्रथम पुरुष' के अंत भाग से शुरु होती है। कंस वध के पश्चात् उसकी दोनों रानियां—अस्ति और प्राप्ति—भारी विलाप करती हैं। उनको इस बात का दु:ख है कृष्ण ने कंस का वध किया। उन्हें बन्दी भी बनाया जा सकता था। अस्ति और प्राप्ति को बलराम सुरक्षा के साथ उनके पिता मगध-नरेश जरासंघ के पास छोड़ आते हैं। अपनी दोनों बेटियों को विधवा-रूप में देखकर जरासंघ क्रोधित होता है और प्रतिशोध की तैयारी में लग जाता है। वह

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY • The University of Baroda

प्रतिशोध की आग में तपता हुआ मथुरा पर बार-बार आक्रमण करता है। उसके बार-बार के आक्रमण से प्रजाजनों का भारी अहित हो रहा था, परिणामस्वरूप कृष्ण वहां से यदुवंशियों के साथ स्थानांतरित होकर द्वारिकापुरी आ जाते है और वहां अपने राज्य की स्थापना करते हैं।

'पुरुषोत्तम' की कथा कुल 108 अध्यायों में विभक्त है। द्वारिकापुरी में राज्य-स्थापना के उपरान्त श्रीकृष्णादि के विवाह, विभिन्न राजाओं से युद्ध, कृष्ण-सुदामा मिलन प्रसंग, स्यमंतक मणि की कथा आदि में 44 अध्याय लग गए हैं। पैतालीसवे अध्याय में पांडवों के लाक्षागृह दहन का प्रसंग आया है। वहां से कृष्णकथा के समानान्तर पांडवों की कथा भी चलती है। गीता के कृष्णार्जुन संवाद को भी लेखक ने विशेष महत्व दिया है। अध्याय संख्या 68 से 87— कुल बीस अध्यायों में लेखक ने गीता का विवेचन किया है जिसे हम उनका गीता-भाष्य भी कह सकते हैं। लोकमान्य तिलक के 'गीता-रहस्य' का प्रभाव इस पर देखा जा सकता है। उपन्यास-कला की दृष्टि से यहां कथा-रस में अवरोध उत्पन्न हुआ है। लेखक का उपदेशक रूप यहां उपन्यासकार पर हावी हो गया है। दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' काव्य का प्रभाव भी यहां परिलक्षित किया जा सकता है।

कुरुक्षेत्र का महाविनाशक महासमर कुल अठारह दिनों तक चलता है। 68 वे अध्याय से प्रारंभ होकर यह युद्धकथा एक सौ आठवें अध्याय तक चलती है। उपन्यास के अंतिम परिच्छेद 'उपसंहार' में कृष्ण-जीवन के अंत को मार्मिकता के साथ उकेरा गया है। युद्ध के उपरान्त बलराम तो तीर्थयात्रा पर निकल पड़ते हैं। कृष्ण युद्ध के बाद 36 वर्षों तक द्वारिका पर राज्य करते हैं। गांधारी और ऋषि-मुनियों के शाप के कारण यदुवंश विलासी, शराबी और दुराचारी होता जाता है। कृष्ण भी उसे रोक नहीं पाते और अंततः आंतरिक कलह में उनको नाश हो जा है। यदुवंशियों के विनाश की कथा को सुनकर बलराम खिन्न होकर समाधि ले लेते हैं। बलराम के निधन से कृष्ण अत्यन्त व्यथित हो जाते हैं। एक दिन शाम को निराशा में एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे तब एक व्याध का बाण उनके पैर के

तलवों में लगता है और उनकी भी मृत्यु हो जाती है। उसके पीछे भी पुराणों में कथा वर्णित हे कि रामावतार में राम ने बाली को छिपककर मारा था, उसके प्रतिशोध के रूप में कृष्णावतार में वही बाली व्याध बनकर उनके पर बाण चलाता है, जिससे कृष्ण की इह लीला समाप्त हो जाती है।[63]

यदुवंशियों के विनाश के पीछे भी एक कथा है। द्वारिका में एक बार तपोपूत ऋषियों का दल आया था। विलासी और शराब के नशे में धूत कुछ यादव युवक उनका मजाक उड़ाने के लिए साम्ब को युवती बनाकर, उसे गर्भवती का रूप देखकर, पूछते है कि इसका भविष्य कथन करके बताइये कि इसे पुत्र होगा या पुत्री। इस बात पर ऋषिदल क्रोधित होकर उनको श्राप देते हैं कि इसके गर्भ से मूसल पैदा होगा जिससे यादवकुल का विनाश होगा। [64] कुछ समय बाद साम्ब के गर्भ से सचमुच में मूसल पैदा हुआ। यादवों ने मारे डर के उसे जलाकर उसके चूर्ण को समुद्र में फ़ेंक दिया। उससे समुद्र में कांटेदार घास उग आयी और उसीसे अन्ततोगत्वा उनका विनाश हुआ। व्याध ने जो बाण कृष्ण पर चलाया था उसकी नोंक पर भी उसी मूसल का अंश लगा हुआ था।

इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने कृष्ण की किशोरावस्था से लेकर उनकी मृत्यु तक की घटनाओं का संनियोजन किया है। यहां लेखक ने श्रीकृष्ण को भगवान न मानते हुए एक महानायक के रूप में उनका चित्रण किया है। इसीलिए उपन्यास को 'पुरुषोत्तम' संज्ञा से शीर्षस्थ किया है। राधा उनकी प्राण-शक्ति या संकल्प-शक्ति है। उपन्यास के अन्त में काल-पुरुष के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं—'तो कान खोलकर सुन लो काल-पुरुष! अखण्ड काल तक श्रीकृष्ण सचमुच ही ईश्वर के रूप में पूजित होगा और वह अपनी संकल्प-शाक्ति के बल पर ही उदघोषित कर रहा है। इस अखण्ड काल तक रुक्मिणी नहीं, सत्यभामा नहीं, जाम्बवती नहीं, सत्या नहीं, राधा ही उसके पार्श्व में बिराजेगी। विवश नहीं करो कहने को। राधा कृष्ण की अंकशायिनी नहीं रही, न है, अतः द्वारिका के पर्यंक पर रुक्मिणी का जो अधिकार रहा, भविष्य के सिंहासन पर

कृष्ण के वामांग में राधा ही बिराजेगी"।[65] और आज हम वही देख रहे हैं। कृष्ण के साथ राधा का ही नाम जोड़ा है और जुड़ता है अन्य किसी रानी का नहीं। इस संदर्भ में मेरे गुरुवर डॉ. पारुकान्त देसाई की निम्नलिखित चतुष्पदी का स्मरणपटल पर उभर आना स्वाभाविक ही रहेगा—"कहे राधा, सुन रुक्मिणी रानी महारानी पटरानी सुर नर मुनि घर घर जाने हैं। तेरे रूप गुण शील की कहानी तो जबानी हुई द्वारिका के नर-नार खूब ही बखाने हैं। रानी जियो पियो सुधारस अधरन सों श्याम संग रंग विभव बहुत तुम्हें पाने हैं। राधा भयी कभी बांसुरी बिखेरी ब्रज माधुरी जगधारा हुई राधा बस इतने ही बाने हैं"।[66]

उपन्यास में अनेकों घटनाएं वर्णित है। जरासंध के साथ अठारह-अठारह युद्ध, कालयवन का चढ़ आना, फ़लतः सबका कुशल-क्षेम सोचकर द्वारिका की और प्रस्थान, रुक्मिणी-हरण, उसके कारण अनेक राजाओं से युद्ध, सुदामा-प्रसंग, उषा-अनिरुद्ध का प्रेम-विवाह, बाणासुर से युद्ध, कोशल-नरेश सत्यजित के सात बलशाली वृषभों को नाथकर सत्या से विवाह, भौमासुर का वध करके साठ हजार निर्दोष किशोरियों को बचाना, स्यमंतक मणि की कथा, रानियों को राधा के प्रेम की श्रेष्ठता का प्रमाण देना, जाम्बवती से विवाह, कुरुक्षेत्र के युद्ध के उपरान्त उनहत्तर साल की राधा का समरभूमि पर आना, उसके आग्रह पर बांसुरी बजाना और उन सूरों में ही राधा के प्राणों का विलीन हो जाना, महासमर के बाद कृष्ण का 36 बरसों तक द्वारिका पर राज्य करना। यदुवंश का विनाश, बलराम का समाधिस्थ हो जाना, विषादयुक्त स्थिति में व्याध के बाण से कृष्ण की मृत्यु जैसे प्रसंग उपन्यास में विनियोजित हुए हैं। लाक्षाग्रह के बाद से महाभारत की पांडव-कथा इसके समानान्तर चलती है।उसके प्रसंग लगभग वही हैं जो डॉ. कोहली के उपन्यास में आये हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में कृष्ण का बहुआयामी चरित्र निरूपित हुआ है। वह नटखट है, ग्वाला है, सखा है, साहसी है, वीर है, मल्ल है, चक्रपाणि है, योद्धा है, राजनीतज्ञ है, न्यायी और न्याय का पक्षधर है, विभिन्न कलाओं में निपुण है, अद्वितीय बांसुरीवादक है, दूरंदेशी है और सबसे ऊपर महान प्रेमी है। राधा और द्रौपदी के द्वारा उन्होंने

प्रस्थापित किया कि स्त्री-पुरुष में सख्यता का सम्बन्ध भी हो सकता है। प्रेमी ही नहीं, प्रेमियों के भी प्रेमी थे और अपने समय में हर प्रेमी को उन्होंने सहायता की है। प्रेम-विवाह के वे जोरदार पक्षधर थे।

उपन्यास में कृष्ण, बलराम, अर्जुन, युधिष्ठर, भीम आदि वीर योद्धाओं की वीरता और उदात्तता का निरुपण तो हुआ है; किन्तु लेखक ने कर्ण और दुर्योधन जैसे पात्रों के साथ भी न्याय किया है। कृष्ण अपनी कूटनीति के तहत युद्ध के पूर्व कर्ण के सामने उसके जन्म का रहस्य प्रकट करते हैं और उसे 'कौन्तेय' कहते हुए पांडवों के पक्ष में आने का आमंत्रण देते हैं, तब कर्ण जो उत्तर देता है उससे उसकी वीरता, धीरता और उदात्तता का परिचय मिलता है—

"क्योंकि ऐसा हुआ तो बात राधा माता तक पहुंचेगी, बात दुर्योधन तक पहुंचेगी, बात अर्जुन भीम तक पहुंचेगी। राधा माता का कलेजा फ़ट जायेगा, दुर्योधन का मुझ पर से विश्वास उठ जायेगा। वह मुझे राधेय नहीं, कौन्तेय समझ मुझ पर गुप्तचर बैठा देगा। हो सकता है वह मुझे अपने से पृथक भी कर दे। पर मैं उससे पृथक होना भी नहीं चाहता, इसमें उसीका अकल्याण होगा। अर्जुन और भीम? हां, वे मुझे अपना सहोदर समझ बैठेंगे और मुझ पर मारक प्रहार नहीं करेंगे, पर मैं नहीं मानूंगा और वे शायद नहीं मरने वाले होकर भी कुरुक्षेत्र के रणांगण में मेरे शरों से मारे जायेंगे। मैं उनके साथ अन्याय नहीं करना चाहता"।[67]

कर्ण की इस बात से कृष्ण भी प्रसन्न हो जाते हैं और उनके मुंह से कर्ण के लिए शब्द फूट पड़ते हैं—"कोई चौथा व्यक्ति इस भेद को नहीं जानेगा, पर मैं तुम्हारी न्याय-प्रियता के लिए तुम्हारा साधुवाद भी करता हूं। कर्ण सदा नहीं पैदा हुआ करते राधेय, नहीं कौन्तेय"।[68]

जब सारे कौरव-वीरों की मृत्यु हो जाती है और कुछ इने-गिने लोग ही बच जाते हैं, तब वे लोग दुर्योधन को संधि के लिए समझाने का प्रयत्न करते हैं। उस समय दुर्योधन का जो उत्तर है वह बड़ा ही मानवीय, वीरोचित और संवेदनापूर्ण है—"अब जब मेरे

निन्यानबे भाई, पितामह भीष्म, गुरु द्रोण और कर्ण सब मेरे लिए मृत्यु का वरण कर चुके हैं तो मैं अपने प्राणों की रक्षा के लिए संधि करुं?" [69] उसका यह प्रश्न ही उसकी महानता का द्योतक है।

एक अन्य प्रसंग तो उसके उदात्त चरित्र पर चार चाँद लगाता-सा प्रतीत होता है। अंत में वह अपनी विद्या का प्रयोग करते हुए जल में छिप जाता है, परंतु पांड़व उसे ढूंढ ही निकालते हैं। तब युधिष्ठर कहते हैं कि तुम हममें से किसीके भी साथ द्वन्द्व युद्ध करके उसे पराजित करते हुए अपने राज्य को पा सकते हो। यहां धर्मराज जीती हुई बाजी हार रहे थे। दुर्योधन बड़ी आसानी से नकुल या सहदेव को पराजित कर सकता था, परंतु ऐसा न करके वह अपने समकक्ष योद्धा भीम का चुनाव करता है।

अपने इस महाकाव्यात्मक (Epic-Novel) में डॉ. मिश्र मार्मिक प्रसंगों का चयन भलीभांति कर पाए हैं, और इस दृष्टि से उसका यह उपन्यास पौराणिक उपन्यासों की पंक्ति में अपना सम्यक् स्थान बना पाया है।

(6) पवनपुत्र (1987) :

सत्यदेव चतुर्वेदी द्वारा लिखित 'अमितवेग' (1958) हनुमान की कथा पर आधृत उपन्यास था। 'अमितवेग' के नायक हनुमान ही हैं। डॉ. भगवतीशरण मिश्र भी हिन्दी के एक आस्थावान लेखक हैं। डॉ. मिश्र मूर्तिपूजक भी है और परंपरापूजक भी है। जहां हिन्दी के कई लेखक, उपन्यासकार, ऊपर-ऊपर से मार्क्सवादी-प्रगतिवादी होने का स्वांग करते हैं और भीतर-ही-भीतर पूजा-पाठ आदि सब करते हैं, वहां डॉ. मिश्र एक ऐसे लेखक-उपन्यासकार हैं जो पूजा-पाठ-तीर्थ सभी में विश्वास रखते हैं और उसे छिपाते नहीं है। यह बेलौस निखालसता उन्हें हिन्दी लेखकों में अपांक्तेय बना देती है। उनको हम दक्षिणपंथी लेखक कह सकते है। परंतु बावजूद इन सबके वे मानवतावादी है और मानवीय मूल्यों की कद्र करते हैं। हनुमान लेखक के इष्ट देवता है और इस उपन्यास को उन्होंने पूरी निष्ठा से लिहा है। भूमिका में उन्होंने लिखा है कि यह पुस्तक उन्होंने लिखी

नहीं है, बल्कि उनसे लिखवायी गयी है। कोई अदृष्ट शक्ति उन्हें निरंतर प्रेरित करती रही है। यह भी एक विचित्र संयोग है कि उनके दोनों चरित नायक—शिवाजी और हनुमान—शिव के अंशावतार माने गए हैं। डॉ. मिश्र ने 'पहला सूरज' नामक उपन्यास छत्रपति शिवाजी के जीवन पर लिखा है, जिसे पूर्ववर्ती पृष्ठों में निरुपित किया जा चुका है।

प्रस्तुत उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। स्वयं हनुमानजी अपनी कथा कहते हैं, लेखक को माध्यम बनाकर। इसमें लेखक ने हनुमान-विषयक मिथकों का ग्रन्थि-भेदन नहीं किया है। हनुमान का पौराणिक स्वरूप यहां कायम रखा गया है। स्वयं लेखक इस संदर्भ में कहते हैं—"इस पुस्तक का लक्ष्य हनुमान के देवत्व को नकारना नहीं, बल्कि उसकी पुनर्स्थापना ही है।... इस अर्थ में यह पुस्तक आस्थावानों के लिए ही है, अनास्थावान इससे निराश हों तो हों। मेरा लक्ष्य उनको तुष्ट करना, अपनी पहले की रचनाओं में भी नहीं रहा, इसमें भी नहीं है"।[70]

अपने अन्य ऐतिहासिक एवं पौराणिक उपन्यासों की भांति प्रस्तुत उपन्यास के प्रणयन के पूर्व लेखक ने पर्याप्त श्रम लिया है। इसमें उन्होंने हनुमानजी के पात्र में अपनी श्रद्धा के अनुरूप परिशोधन किया है। अनेक पौराणिक ग्रन्थों के मंथन के उपरान्त उन्हें जो ग्राह्य लगा उसे अंगीकृत करते हुए इसमें उपन्यस्त किया गया है। इस उपक्रम में उन्होंने वाल्मीकि-रामायण, रामचरितमानस, कम्ब-रामायण, अध्यात्म-रामायण, कृतिवास-रामायण (बंगला), गिरधर रामायण (गुजराती), मोल्ल-रामायण (तेलुगु), श्री रामचरित पुराणम् (कन्नड़), भानुभक्त-रामायण (नेपाली), आदि नानाविध रामायणों से लेकर रघुवंश (कालिदास), उत्तर-रामचरित (भवभूति), हनुम्माननाटक, श्रीमदभागवत पुराण, स्कन्दपुराण, पद्मपुराण, शिवपुराण आदि अनेकानेक ग्रन्थों का अनुशीलन व दोहन किया है और उसके आधार पर हनुमानजी के पात्र का पुनर्सर्जन किया है।[71]

उदाहरणतया हनुमान-जन्म की कथा वाल्मीकि-रामायण के किष्किंधाकांड के अनुसार इस प्रकार है: अप्सरा पुंजिकस्थली जो

अंजनी नाम से भी प्रसिद्ध थी, वानर-राज केसरी की पत्नी थी। वह एक बार वस्त्राभूषणों से सज्जित खड़ी थी, तो वायुदेव उस पर मुग्ध हो गये और उसे अपने आलिंगन में कस लिया। व्रतधारिणी अंजनी घबरा गयी, परंतु वायुदेव ने उसे पुत्र का वरदान दिया। उस वरदान से हनुमान का जन्म हुआ, इसी कारण वे 'पवनपुत्र' कहलाये।[72]

यही कथा शिवपुराण में इस प्रकार है: एक बार शिव किसी मोहिनी के रूप पर मुग्ध हो गये , फ़लतः उनका वीर्यपात हो गया। नगाधिराज हिमालय ने उसे शिव का प्रसाद समझकर रख लिया। एक दिन अंजनी एक पर्वत-श्रृंग पर खड़ी थी। पवनदेवता प्रभंजन उसके रूप पर मुग्ध हो गये और उन्होंने शिव के उस प्रसाद को अंजनी के गर्भ में स्थापित कर दिया। उसी वीर्य से उत्पन्न बालक हनुमान हुए। इस प्रकार हनुमान पवन तथा शिव दोनों के पुत्र कहलाये।[73]

परंतु लेखक ने हनुमान-जन्म की कथा को अपनी आस्था के अनुसार लिया है। केसरी तथा अंजना दोनों को क्रमशः ऋषि भारद्वाज तथा शिवजी की ओर से पुत्र-प्राप्ति का वरदान मिलता है। शिवजी अपने दर्शनों से अंजना को कृतार्थ करते हुए कहते हैं—"तुम्हें एक अत्यन्त पराक्रमी पुत्र उत्पन्न होगा जिसकी गति अंतरिक्ष, पाताल और पृथ्वी तीनों में अबाधित होगी और जिसके समान योद्धा, गुणज्ञ और भगवदभक्त न तो अब तक त्रैलोक्य में हुआ है न भविष्य में होगा। स्वयं अपने एक अंश से अवतरित हो रहा हूं मैं। रुद्रावतार होगा तुम्हारे आँगन में अंजना। शंकर-सुत की ही संज्ञा पायेगा तुम्हारा तनय"।[74]

उसी समय अयोध्या में राजा दशरथ गुरु वसिष्ठ के आयोजन में तथा ऋष्यश्रृंग के पौरोहित्य में पुत्रेष्टि- यज्ञ कर रहे थे। यज्ञ के उपरान्त एक चील खीर के द्रोण को उड़ा ले गई। वह प्रभास-तीर्थ की दिशा में उड़ी जहां अंजना अंजलि खोले तपस्या रत थी। अचानक वह पर्णपूट उसकी चांच से गिरकर अंजना की अंजुलि में आ गया। तब पवनदेव ने प्रकट होकर कहा—"अंजने! आशुतोश की प्रेरणा से ही मैंने यह चरु तुम्हें उपलब्ध कराया है। इसे सदाशिव और पवन का

सम्मिलित आशीर्वाद समझकर ग्रहण करो। शिव के वरदान के अनुसार तुम्हारा पुत्र शक्तिशाली और वेद-वेदांग पारंगत तो होगा ही मेरे प्रसाद से वह मेरे वेग को भी प्राप्त करेगा। इस चरु के ग्रहण करते ही तुम्हें गर्भाधान होगा और इसे तुम तक पहुंचाने में प्रेरणा बनने के कारण आशुतोष के अंश से उत्पन्न तुम्हारा पुत्र पवनसुत के नाम से भी विख्यात होगा"।[75]

इस घटना के पश्चात चैत्र मास की शुक्लपक्षीय एकादशी और मंगलवार को पवनपुत्र तथा शंकर-सुअन हनुमानजी का जन्म हुआ। प्रस्तुत उपन्यास में हनुमानजी के जीवन की समग्र घटनाओं को सुगुम्फ़ित किया गया है, जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं: क्षुधित बाल-हनुमान का सूर्य फ़ल समझकर उसको खाने के लिए लपकना; इन्द्र के व्रज के प्रहार से मूर्च्छित होना; 'हनु' (दाढ़ी) के टूटने के कारण 'हनुमान' कहलाना; व्रज को भी पचा जाने के कारण 'बजरंगबली' नाम (वज्र+अंग+बली) से भी जाना जाना; हनुमान की बाल-क्रीडाओं के कारण ऋषियों की तपस्या में विघ्न पहुंचना, अतएव शापित करना कि जब तक उन्हें कोई स्मरण न दिलावे अपनी शक्ति का अभिज्ञान उन्हें न होगा; सूर्य के द्वारा उनकी शिक्षा, अंजना के द्वारा रामायण की कथा का सुनाना; हनुमान का आग्रह कि मैं अपने आराध्य को देखने जरूर जाऊंगा, इस पर भगवान आशुतोष का मदारी रूप में आकर उन्हें अयोध्या ले जाकर रामजी के दर्शन करवा लाना; राम-लक्ष्मण का शिक्षा हेतु विश्वामित्र के पास पहुंचना; उनके दर्शन के लिए हनुमानजी का गंधमादन पहाड़ी पर आना आदि-आदि उनके बाल-जीवन और कैशोर्य की कथाएं। इसके पश्चात् की अनेक घटनाएं डॉ. कोहली के रामायण-शृंखला के अंतिम दो उपन्यासों ('संघर्ष की ओर' तथा 'युद्ध') में वर्णित हैं। अतः उनसे अलग पड़नेवाली घटनाओं का ही उल्लेख किया जायेगा।

डॉ. कोहली ने समुद्र-संतरण की बात कही है, जबकि डॉ. मिश्र समुद्र-लंघन की बात करते हैं और इसके साथ ही कुछ चमत्कारपूर्ण घटनाओं का भी उल्लेख है, जैसे सर्पिणी द्वारा जड़बों को खोलना, हनुमानजी का अंदर जाकर फिर बाहर निकल आना, सिंही

द्वारा उनका रास्ता रोकना, गदा प्रहार से उसे यमलोक पहुंचा देना, लंकी से बातचीत, ब्राह्मण वेश में विभीषण को मिलना आदि-आदि। सेतु-निर्माण के समय गिलहरी वाला प्रसंग भी यहां आया है। हनुमानजी का शिवलिंग के लिए कैलास जाना भी यहां वर्णित है। युद्ध के दौरान अहिरावण द्वारा राम-लक्ष्मण का अपहरण हो जाता है, तब हनुमानजी पाताल लोक जाकर अहिरावण का वध करते हुए राम-लक्ष्मण को वापस ले आते हैं।

इनके अतिरिक्त जो नये प्रसंग हैं उनमें हनुमानजी के अमरत्व की बात, हनुमानजी के संगीतज्ञ होने की बात, उनके विवाह की बात, मंथरा के प्रस्ताव पर हनुमानजी का बिदकना, सिंदूर लगाने वाली बात, लक्ष्मणजी की दुरभिसंधि से सेवासूची से हनुमानजी का नाम खारिज कर देना, शनिदेव तथा हनुमानजी संवाद, सीता-वनवास से हनुमानजी का क्षुब्ध होना, अगस्त्य ऋषि द्वारा अश्वमेध का प्रस्ताव (डॉ. कोहली ने इस प्रसंग को लिया ही नहीं है, वहां राम के राज्याभिषेक के साथ ही उपन्यासमाला समाप्त हो गई है। डॉ. भगवानसिंह ने यह बताया है कि वसिष्ठ ही राम को अश्वमेध के लिए बार-बार सलाह देते हैं, बल्कि अगस्त्य-वाल्मीकि-विश्वामित्र आदि को तो इस प्रकार के यज्ञों के विरोधी बताया है।) लव-कुश के साथ राम-सेना का युद्ध, शत्रुघ्न का संज्ञाहीन होना, अश्वमेध की समाप्ति, वैदेही का भूमि-प्रवेश आदि घटनाओं को परिगणित कर सकते हैं।

'उपसंहार' में भीम, गरुड़, चक्र, रुक्मिणी आदि द्वापर के पात्रों का गर्व-दलन हनुमानजी के द्वारा श्रीकृष्ण के संकेत पर किया जाता है।

यहां लेखक ने यह भी बताया है कि हनुमानजी उपदेवता की श्रेणी में आते है। उनका आदर्श श्रीराम की सेवा का रहा है। सेवक-धर्म ही उनका धर्म है। उनकी भक्ति दास्य प्रकार की है। सेवा-धर्म के पालन हेतु नम्रता, तत्परता, सन्नद्वता आदि गुण अपेक्षित हैं जो हनुमानजी में पूर्णतया हैं।

यहां लेखक ने हनुमानजी के अलौकिक, अपौरुषेय, चमत्कारपूर्ण प्रसंगों से परहेज नहीं किया है, न उनका कोई आधुनिक अर्थ-घटन दिया है। अतः डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने प्रस्तुत उपन्यास को उपन्यास न कहकर 'महात्म्याख्यानात्मक गाथा' कहा है, क्योंकि पौराणिक श्रद्धालु विश्वासनिमग्न मिथकीय मनोदशा से हनुमान की – अलौकिक, दिव्य, वीरगाथा और भक्तिभाव की गाथा का ही जन्म हो सकता है, 'उपन्यास' का नहीं, यह भी स्पष्ट ही है।[76]

परंतु आधुनिक भावबोध से उपन्यास एकदम अलिप्त है, ऐसा भी नहीं है। सगर्भावस्था में सीता का निष्कासन रामकथा ही नहीं भारतीय संस्कृति की भी कलंकगाथा है। इस घटना से हनुमानजी क्षुब्ध हो जाते हैं, यहां तक कि संज्ञाशून्य हो जाते हैं और उनकी यह स्थिति कुछ क्षणों या पलों की नहीं है, परंतु दीर्घकाल तक की है। वि कहते हैं – "यह मेरे जीवन का सबसे दुःखद दिन था। इसकी पूर्व-कल्पना भी असंभव थी। अतः वज्रपात का यह – साक्षात् दुर्भाग्य का दारुण तांडव। भाग्यविधाता वाम हो गए थे, मेरे ही नहीं सौमित्र के, भरत के, शत्रुघ्न के, बल्कि संपूर्ण अयोध्या के ही।"[77]

डॉ. उपाध्याय राम की इस मर्यादावादी सोच से पीड़ित हैं। इस संदर्भ में वे आगे कहते हैं – "परंतु 'पवनपुत्र' में हनुमान राम के सीता के प्रति क्रूर आदर्शवादी अमूर्त मर्यादावाद का विरोध तो नहीं करते, पर वह क्षुब्ध अवश्य होते हैं और यह क्षोभ या दुःख ही उन्हें अनुकरणीय बनाता है।"[78]

सीता के भूमि-प्रवेश की घटना का उल्लेख तथा उस समय हनुमानजी की मनोदशा का वर्णन भी लेखक की मानवीय दृष्टि को रेखांकित करता है – "अग्नि ने तो वापिस कर दिया था वैदेही को अपनी लपटों की गवाही देकर पर नहीं वापिस की थी पृथ्वी ने अपनी पुत्री, इस कृतघ्न संसार को। श्रीराम और उनके दरबारी हाथ मलते रह गये और चली गई थी सीता रसातल को... टूट गया था मेरा मन उस दिन पूरी तरह और तबसे टूटा मन लिए ही डोल रहा हूं मैं।"[79]

डॉ. मिश्र आस्थावान है, आस्तिक है, परंतु हिन्दू धर्म में प्रचलित जातिवाद और अस्पृश्यता के वे पक्षधर नहीं है, अतः प्रस्तुत उपन्यास में हनुमानजी के द्वारा उसकी कटु आलोचना भी करवायी है – "यह नहीं कि मेरे आराध्य श्रीराम के द्वारा समर्थित सिद्धान्त में कोई गलती थी। ... काल क्रम से व्यक्ति के कर्म को नहीं, गुण को नहीं, जन्म को, जाति को उसकी पहचान बना दिया गया। वर्ण-व्यवस्था के रूप में रूढ़ और विकृत हो गई।... दुर्दशा इस चरम सीमा तक पहुंची कि जिस देश का अवतार द्वापर में हर जीव में भगवान को देखता है 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृदेशे अर्जुन तिष्ठति," उस देश के ही वासियों ने स्पृश्यों और अस्पृश्यों की श्रेणियों में व्यक्तियों को विभक्त कर दिया और किसी-किसी की तो छाया से भी लोगों को छूत लगने लगी – देह तो देह उसका प्रतिबिम्ब भी अस्पृश्य हो आया।... आप मूर्तियों को गढ़ने, मंदिरों का निर्माण करने और देवी-देवताओं को भेंट-भोग देने में तो दक्ष हैं पर मनुष्य-मनुष्य के मध्य स्नेह-सेतु के निर्माण में, विश्व से विद्वेष, घृणा, ईर्ष्या और शत्रुता को निःशेष करने की और आपका ध्यान न के बराबर है।"[80] यह मानवीय सरोकार, यह मानवीय चिंतन, यह मानवीय-दृष्टि-संपन्न धर्म (Religion with human face) की बात ही उपन्यास और अतएव लेखक की भी शक्ति है। लेखक अपनी सृष्टि से बड़ा तब बनता है जब वह मानवीय मूल्यों की परवाह करता है, और ऐसा यहां हुआ है, इतना तो कहा ही जा सकता है।

(7) अभिज्ञान (1981) :

'अभिज्ञान' डॉ. नरेन्द्र कोहली का कृष्ण के जीवन पर आधारित उपन्यास है। इसमें लेखक ने श्रीकृष्ण और सुदामा की मैत्री के प्रसंग को लिया है। महाभारत-शृंखला के उपन्यासों में यह प्रसंग छूट गया था। डॉ. भगवतीशरण मिश्र के पौराणिक उपन्यास 'पुरुषोत्तम' में इस प्रसंग को लिया गया है, एक मार्मिक प्रसंग के रूप में, परंतु यहां उस कथा को एक विस्तार एवं नवीन आयाम देने को लेखक का उपक्रम है।

'अभिज्ञान' कृष्ण-सुदामा की मैत्री-कथा की पृष्ठभूमि पर लिखा गया उपन्यास है। मैत्री-कथा का प्रसंग तो आनुषंगिक है, वस्तुतः इसके ब्याज से लेखक एक तत्व-दर्शन की मीमांसा करना चाहते हैं। लेखक का मन उस प्रसंग में जितना नहीं रमा है उतना कर्म-सिद्धान्त में रमा है। इस संदर्भ में डॉ. विजयेन्द्र स्नातक लिखते हैं – "डॉ. नरेन्द्र कोहली ने अभिज्ञान में मात्र औपचारिक रूप से माध्यम का वरण नहीं किया, यदि वे ऐसा करते तो उपन्यास अपनी सार्थकता ही खो बैठता। उपन्यास में कथारस को क्षति पहुंचाये बिना 'गीता' में प्रतिपादित श्रीकृष्ण के 'कर्म-सिद्धान्त' को जीवन और जगत में व्यवहार के धरातल पर समझाने का प्रयास किया गया है।"[81]

इस संदर्भ में आगे वह कहते हैं – "प्रारंभ के पृष्ठों में सुदामा के पारिवारिक जीवन की झांकी प्रस्तुत करते हुए, लेखक ने यह सिद्ध कर दिया है कि विचार और चिंतन के स्तर पर अत्यन्त प्रबुद्ध हैं। जगत के सांसारिक व्यवहारों का भी उन्हें ज्ञान हैं। वह यह भी जानता है कि ज्ञान की उपलब्धि अध्ययन, मनन और साधना से ही नहीं, राजनीतिक जोड़-तोड़ से भी संभव है। राजनेता जिसे चाहे विद्वान् सिद्ध कर पुरस्कृत कर दें और जिस पंडित को चाहें मूर्ख कहकर अपमानित कर दें। यह लोक-व्यवहार जगत में चलता है और चल रहा है। कृष्ण से मिलने पर सुदामा के मन में अनेकानेक प्रश्न उत्पन्न हुए। सुदामा उन प्रश्नों का समाधान कृष्ण से चाहते थे।"[82]

कृष्ण का 'कर्म-सिद्धान्त' उस समय तक सुदामा को ग्राह्य नहीं हुआ था, क्योंकि व्यवहार जगत में कई बार वे बुराई को जीतते और भलाई को हारते देख चुके थे। स्वयं उनका जीवन उसका एक उदाहरण था। अपने समय के उद्भट्ट विद्वान होते हुए वे दर-दर की ठोकरें खा रहे थे और दूसरी तरफ नितान्त अयोग्य लोग गुरुकुलों और विद्यापीठों में लगे हुए थे। परंतु कृष्ण के संपर्क में आकर सुदामा 'कर्म-सिद्धान्त' की सार्थकता का अनुभव करते हैं। यही 'अभिज्ञान' है।

कृष्ण अपना 'कर्म-सिद्धान्त' सुदामा को समझाते हैं। उसके लिए वे दैनिक-जीवन से बड़ा ही वैज्ञानिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं – "हम एक गेंद को दीवार पर मारते हैं, तो वह निश्चित रूप से वापस आती है, किन्तु जब किसी मनुष्य के साथ भलाई करते हैं तो आवश्यक नहीं कि वह उसका उत्तर भलाई से ही दे। ... देखो! क्रिया-प्रतिक्रिया के वैज्ञानिक नियम में गेंद, दीवार और फेंकना – ये तीन उपकरण हैं। गेंद कीचड़ में मारी जाएगी तो वह न लौटेगी, बल्कि छींटे उड़ेंगे। ... वैसे ही यह देखना पड़ेगा कि जिस मनुष्य की भलाई की जा रही है, वह दीवार है, ढूह है या कीचड़ है। भलाई की प्रतिक्रिया भी उसी रूप में होगी।"[83]

श्रीमद्भागवत के अनुसार सुदामा श्रीकृष्ण के विद्यार्थीकाल के बालसखा थे। सुदामा ब्राह्मण कुल से हैं और गुरु सांदीपनि के आश्रम में शास्त्र-ज्ञान अर्जित करने के लिए आये थे। उसी आश्रम में कृष्ण भी शिक्षा प्राप्त करने आते हैं और कुल चौंसठ दिन वहां रहते हैं। उसके बाद दोनों अलग होते हैं। उसके बाद कोई खास उल्लेख सुदामा के संदर्भ में मिलता नहीं है। कालांतर में जाकर एक महत्वपूर्ण घटना सामने आती है। सुदामा की पत्नी सुशीला सुदामा की निर्धनता से दुःखी होकर सुदामा से कृष्ण से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायता मांगने के लिए द्वारिका भेजती है। मित्र के यहां खाली हाथ कैसे जावें ऐसा सोचकर उपहारस्वरूप कच्चे चावल (तांदुल) की पोटली लेकर जाते हैं। कृष्ण के वैभव को देखकर सुदामा को बहुत संकोच होता है कि यादव-श्रेष्ठ, अनेक सेनाओं के नायक और सम्राटों के निर्माता कृष्ण को वह अपना उपहार कैसे देंगे। परंतु सम्राटों के सम्राट कृष्ण बड़ी आत्मीयता के साथ सुदामा का स्वागत करते हैं, सबके सामने उनके चरण पखारते हैं और उन्हें अपने हृदय से लगाते हैं।

फिर कथा इस प्रकार की है कि दोनों में खूब बातें होती है। कई-कई विषयों पर वे चर्चा करते हैं। अपने अतीत की जुगाली करते हैं। परंतु स्वाभिमानी सुदामा अपने आने का मूल उद्देश्य अपने मित्र को नहीं बताते। कुछ दिनों के बाद वे अपने गांव सुदामापुरी लौट आते हैं। कृष्ण बिना कहे अपने मित्र के संकट को समझ जाते हैं

और उन्हें त्रैलोक्य की समृद्धि व संपन्नता उपलब्ध कराते हैं। यह तो मिथकीय कथा है। गुजराती के कवि प्रेमानंद ने अपने एक आख्यान में इसका बड़ा मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किया है। परंतु उपन्यास में इस मिथक को तोड़ा गया है। 'कर्म-सिद्धान्त' के पुरस्कर्ता कृष्ण भला बिना कर्म के सुदामा को मालामाल कैसे कर सकते हैं। सुदामा अपने मित्र से कुछ नहीं कहते। मित्र और याचक के विकल्प में, सुदामा मित्र ही रहना चाहते हैं, पर कृष्ण कुछ ऐसा करते हैं कि मित्र के स्वाभिमान को ठेस पहुंचाये बिना उसके कर्मों द्वारा उसका उद्धार हो ऐसा कोई मध्य-मार्ग निकालते हैं। द्वारिका से लौटते समय सुदामा मार्ग में चमत्कृत हुए बिना नहीं रहते कि लोगों का उनके साथ का व्यवहार काफी बदल चुका था। श्रेष्ठी धनदत्त और ग्राम-प्रमुख अब उनके साथ सम्मानपूर्वक बात कर रहे थे। जो लोग पहले सुदामा को घास तक डालने के लिए तैयार नहीं थे अब उसीकी राह में पलकें बिछाकर बैठे थे।

इस उपन्यास के संदर्भ में डॉ. नरेन्द्र कोहली कहते हैं – "रामकथा लिखने के समय ही कई बार मेरा ध्यान कृष्ण-कथा की ओर भी गया था। सुदामा और कृष्ण की मैत्री पर भी मन अटका था। द्रोण और द्रुपद की मैत्री जिन कारणों से हो नहीं पा रही थी – उससे भी अधिक वैषम्य के बावजूद कृष्ण ने सुदामा की मैत्री को स्वीकार किया था। और स्वयं उस मैत्री को सार्वजनिक रूप से प्रकट किया था। उस मैत्री के प्रकट होने पर ही सुदामा का संसार बदला था। ... संयोग से हमारे देश की राजनीति में, उन दिनों कुछ उलट-फेर हुआ। इन्दिरा गांधी के पश्चात् मोरारजी देसाई सत्ता में आए। फिर चरणसिंह और पुनः इन्दिरा गांधी। सत्ता-परिवर्तन के साथ-साथ, मैंने विभिन्न साधारण जनों को अपने संपर्कों के कारण अनायास ही महत्वपूर्ण और महत्वहीन होते देखा। तभी कृष्ण के साथ, सुदामा का सम्बन्ध उद्घाटित हो जाने पर सुदामा के संसार के बदलने का स्वरूप मेरी समझ में आया।"[84]

ऊपर डॉ. कोहली ने इस कथा के लिखते समय द्रोण-द्रुपद की मैत्री की चर्चा की है। द्रुपद द्रोण की मैत्री को नकारते हैं। यहां

दोनों के चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है। द्रुपद और कृष्ण में अंतर है, उतना ही अंतर द्रोण और सुदामा में भी है। सुदामा एक मर्मज्ञ विद्वान और बुद्धिजीवी है। ऐसा बुद्धिजीवी जिसमें न ईर्ष्या, न द्वेष, न प्रतिस्पर्द्धा, क्लेश और न ही उसमें सम्मान अर्जित करने की कोई तीव्र महत्वाकांक्षा है और न वह अपने क्षेत्र से बाहर कोई कर्म कर सकता है। सुशीला के कहने पर सुदामा की पहली प्रतिक्रिया है – "मित्रों और संबंधियों के ऊंचे पदों पर पहुंच जाने पर उनसे अनुचित लाभ उठाने के प्रयत्न को मैंने सदाश घृणित कार्य माना है।"[85] और द्रुपद के स्थान पर यहां कृष्ण है जो प्रेम और मैत्री पर जान छिड़कते हैं। पूरे महाभारत में एक भी स्थान ऐसा नहीं है जहां कृष्ण ने अपने किसी मित्र की सहायता न की हो, हां, उसकी मांग न्यायोचित होनी चाहिए। यहां तो सुदामा कुछ मांगता भी नहीं है। पर कृष्ण समझते है कि सुदामा जैसे विद्वान व्यक्ति की कद्र होनी चाहिए और ऐसा व्यक्ति यदि दरिद्र है तो यह दरिद्रता समाज और सत्ता में बैठे लोगों की दरिद्रता है।

डॉ. नरेन्द्र कोहली के इस उपन्यास में अनायास ही एक विचार की प्रतिष्ठा हो जाती है कि स्वस्थ राजव्यवस्था और समाज की स्थापना के लिए ब्रह्म-शक्ति और छात्र-शक्ति दोनों का सामंजस्य आवश्यक है। [86] उपन्यास का एक फक्कड़ दार्शनिक पात्र बाबा उपयुक्त ही कहते हैं – 'सुदामा जैसा मेघावी दार्शनिक बच्चों को अक्षर-ज्ञान और अंकज्ञान कराकर अपने परिवार का पालन करता है, तो आश्रमों और गुरुकुलों में दर्शन के साधकों को ज्ञान देने का अधिकारी कौन है?"[87]

उपन्यास में ज्ञानेश्वर जैसे बुद्धिजीवियों द्वारा साहित्य और दर्शन आदि विषयों की गोष्ठियों में ज्ञान-चर्चा न कर, राजपुरुषों की स्तुति और प्रशस्ति पाठ करके, बुद्धिजीवी वर्ग को सम्मानित पद से गिराकर रसातल में धकेलने की जो कुत्सित प्रवृत्ति चल रही थी उस पर करारे व्यंग्य किए गए हैं। क्या आजकल हमारे शिक्षा-जगत में यही सब नहीं हो रहा है? ऐसा प्रश्न प्रस्तुत उपन्यास को पढ़ते समय प्रवुद्ध पाठक के मन में पैदा हो सकता है। यही तो डॉ. कोहली की

खासियत है कि वे पौराणिक आख्यान के द्वारा हमारे वर्तमान के सामने एक आईना रख देते हैं।

(8) सूतो वा सूतपुत्रो वा (1998) :

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के हिन्दी के प्रोफेसर डॉ. बच्चनसिंह वैसे तो आलोचक हैं, परंतु उनका एक उपन्यास 'लहरें और कगार' (1956) जमींदारी प्रथा के उन्मूलन की वस्तु पर आया था बीच में उनका एक कहानी-संग्रह 'कई चेहरों के बाद' भी प्रकाशित हुआ था। प्रथम उपन्यास के 41 वर्ष बाद सन् 1998 में उनका यह उपन्यास – 'सूतो वा सूतपुत्रो वा' – सचमुच में हिन्दी उपन्यास के इतिहास में एक सीमाचिह्न-रूप उपन्यास माना जाएगा। डॉ. रामधारीसिंह दिनकर के 'रश्मिरथी' तथा 'कुरुक्षेत्र' में कर्ण के ओजस्वी चरित्र को अभिव्यंजित किया गया है। मराठी उपन्यासकार शिवाजी सावंत के 'मृत्युंजय' जिसमें कर्ण को नायक बनाया गया है, की भी साहित्यिक तबकों में काफी चर्चा रही है। डॉ. बच्चनसिंह का यह उपन्यास 'उपन्यास के काव्यशास्त्र' को कदाचित् नया आयाम दे पाए ऐसा प्रतीत होता है।

उपन्यास की अति-संक्षिप्त भूमिका में लेखक ने कहा है – "महाभारत पढ़ते-पढ़ते कर्ण मेरे मानस पर वैसे ही छा गया था जैसे आकाश पर सावन-भादों के मेघ। आकाश पानी बरसाकर मुक्त होता है अपन 'सूतो वा सूतपुत्रो वा' लिखकर।"[88]

'भूमिका' का 'अपन' शब्द बहुत कुछ कह जाता है। यह उपन्यास अन्य पौराणिक उपन्यासों से भिन्न इन अर्थों में भी हैं कि उपन्यास तत्सम-बहुला संस्कृतनिष्ठ भाषा में न लिखा जाकर सहज-सरल हिन्दी – तद्भव और देशज शब्दावली युक्त – में लिखा गया है। वैसे भी कर्ण लोकनायक है और लोकनायक हमेशा जनभाषा का ही प्रयोग करते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु के एक दिन पहले तक की आत्मकथा कर्ण के द्वारा कही गयी है। वैसे कथा की एकरसता तथा किस्सागो के निवारण के लिए बीच-बीच में लेखक ने क्षेपकों का सहारा लिया है। इसके लिए लेखक ने कर्ण द्वारा युक्तिपूर्वक

कहलवाया है कि बीच-बीच में उसे व्यास लिखित महाभारत की पांडुलिपियां भी मिलती रही हैं। कर्ण के मतानुसार व्यास पांडवों का इतिहासकार था, अतः उपन्यास में अनेक स्थानों पर पांडवों के मिथकीय देव-देवताओं तथा गंधर्वों का मखौल भी कर्ण उड़ाता है। कृष्ण के 'विश्वरूप-दर्शन' प्रसंग में कृष्ण जहां विभिन्न व्यक्तियों तथा वस्तुओं में अपने अभिज्ञान की बात करते हैं वहां यह भी कहते हैं कि 'मैं मुनियों में वेद-व्यास' और कवियों में शुक्राचार्य हूं।' इस पर कर्ण की (लेखक की) टिप्पणी बड़ी सटीक एवं व्यंग्यात्मक है –

"इन नामों में व्यास ने अपना नाम भी डाल दिया है वह भी मुनि के रूप में। मैं मुनि को कवि ही मान रहा हूं। कवि भी ईश्वर या प्रजापति ही होता है। रचना उसकी अपनी सृष्टि है। यदि कृष्ण ने व्यास का नाम लिया हो तो आश्चर्य नहीं। कृष्ण के ईश्वरत्व की स्थापना में व्यास का योग सबसे अधिक है। वह पांड़वों का इतिहास लेखक तो है ही उसका और नाम भी है—कृष्ण द्वैपायन। कृष्ण तो कृष्ण है ही, अर्जुन भी कृष्ण और व्यास भी कृष्ण"।[89]

उपन्यास में लेखक ने बताया है कि मृत्यु से एक दिन पूर्व कर्ण अपनी कथा की पांडुलिपि संजय को दे देता है, अतः उसके बाद की कथा संजय द्वारा लिखी गई है। भाषा में कुछ परिवर्तन लाने का सायास प्रयत्न लेखक ने किया है। उपन्यास तीन पर्वों में विभक्त है — (1) पहला पर्व—एक एकलव्य और, (2) अधर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे- दूसरा पर्व और (3) तीसरा पर्व—संजय उवाच युगान्त जो क्रमशः 11-93, 93-235 और 235-266 पृष्ठों में उपन्यस्त हुई है।

प्रथम पर्व में निम्नलिखित अध्याय या परिच्छेद हैं — (1) मैं कौन हूं? (2) रंगभूमि, (3) परशुराम आश्रम की ओर, (4) आश्रम में, (5) दो-दो अभिशाप, (6) दीपाली के साथ एक रात, (7) युद्ध-बीज, (8) आत्मचिंतन, (9) राजसूय यज्ञ, (10) द्रौपदी के प्रश्न। [90] इन परिच्छेदों में कर्ण-जन्म से लेकर द्रौपदी के चीरहरण तक की घटनाएं उपन्यस्त हुई हैं।

दूसरे पर्व में निम्नलिखित अध्याय हैं—(1)उद्योगपर्व, (2)युद्ध का पूर्वाभ्यास, (3) अपने घर में, (4) सन्धि का नाट्य, (5) नाट्य का पटाक्षेप। (6)व्यास से साक्षात्कार, (7) मृत्यु का वरण, (8) और कुन्ती, (9) भीष्म से भिडन्त, (10) धर्मक्षेत्रे-कुरु-क्षेत्रे, (11) रंगपूजा, (12) युद्ध के नौ दिन, (13) अथ क्षेपक कथा, (14) हस्तिनापुर में कुछ प्रहर, (15) पितामह से साक्षात्कार, (16) मेरी रणयात्रा, (17) चक्रव्यूह, (18) भेड़िये की अंतहीन गुफ़ा, (19) धर्मयुद्ध का एक काला पृष्ठ, (20) प्रश्नोपनिषद, (21) रवि हुआ अस्त, (22) घटोत्कच की मृत्यु, (23) व्यास उवाच और मैं, (24) हत्या: आस्था और विश्वास की, (25) चिंतन के कुछ क्षण, (26) सेनापति कर्ण्। यहां द्रौपदी के चीरहरण से लेकर, पांडवों के वनवास और अज्ञातवास, युद्ध की तैयारियां, कुरुक्षेत्र का युद्ध; अभिमन्यु, घटोत्कच, भूरिश्रवा, भीष्म पितामह की बाण=शैया, द्रोण का वध आदि घटनाओं से होते हुए कर्ण के सेनापतित्व तक की घटनाओं को नियोजित किया गया है। [91]

तीसरे पर्व में केवल तीन परिच्छेद है—(1) संजय उवाच, (2) धर्मराज की बौखलाहट और (3) युगान्त। यहां कर्ण के दुर्धर्ष युद्ध से लेकर छल-छद्मपूर्वक अमानवीय तथा अक्षत्रिय तरीकों से कर्ण के वध तक की घटनाओं का आलेखन हुआ है। यह कथा संजय द्वारा लिखी गयी है। [92]

इस प्रकार कथा तो कमोबेश रूप से वही है, परंतु द्रष्टिकोण-भेद से कई प्रसंगों में उसमें बड़ी रोचकता आ गयी है। जिस प्रकार 'वयं रक्षाम:' रावण-केन्द्रित है, ठीक उसी प्रकार 'सूतो वा सूतपुत्रो वा' कर्ण-केन्द्रित है। दलित-विमर्श की दृष्टि से भी इसका मूल्यांकन होना चाहिए। लेखक ने इसमें धर्म-शास्त्रों पर, मिथकीय देवी-देवताओं पर, ब्राह्मणवाद पर, वर्णाश्रम-व्यवस्था पर बड़े करारे व्यंग्य किए हैं। इस प्रकार 'अपने अपने राम' यदि बकौल नामवरसिंह के एक षड्यंत्र है, तो 'सूतो वा सूतपुत्रो वा' एक सूक्ष्म व्यंग्य-कथा है।

श्रुति-वाक्यों को कैसे मनचाहे ढंग से मोड़ा जाता है उसका एक मनोरंजन उदाहरण उपन्यास के अंत में 'धर्मराज की बौखलाहट' नामक परिच्छेद में उपलब्ध होती है। कर्ण के भयंकर युद्ध और

रौद्र-रूप से बचने के लिए अर्जुन अन्यत्र चला जाता है, तब कर्ण के बाणों से धर्मराज की रक्षा केवल भीम करता है। इस बात को लेकर धर्मराज कि गांडीवधारी अर्जुन को खूब खरी-खोटी सुनाते हैं। यहां तक कि गांडीव के लिए भी अपशब्दों का प्रयोग करते हैं। अर्जुन की प्रतिज्ञा थी कि गांडीव का अपमान करने वाले को वह जीवित नहीं छोड़ सकता। अतः धर्मराज को मारकर वह स्वयं मर जाना चाहता है। कृष्ण युद्ध के विपरित परिणाम की शंका से विह्वल हो उठते हैं। अतः धर्मशास्त्र-सम्मत एक उपाय बताते हैं कि अर्जुन उसके पूज्य ऐसे धर्मराज को अपमानित करके इस संकट से उबर सकता है, क्योंकि सम्मानित-व्यक्ति का अपमानित होना ही उसकी मृत्यु है। उस पर लेखक की टिप्पणी बड़ी ही व्यंग्यात्मक व पैनी है—(हमारी) श्रुतियों-स्मृतियों में अनेक परस्पर विरोधी बातें मिल जाती हैं। वरण की पुरी छूट है। जिसके हित में जो होता है, वह उसका वरण कर लेता है। अर्जुन ने वही किया। उसने जो कुछ कहा उससे गांडीव के बाण कम भयानक न थे"।[93]

द्रोण-वध के उपक्रम के लिए कृष्ण धर्मराज को पकड़ते हैं। वहां कर्ण (लेखक) की उक्ति बड़ी सटीक है: "इससे पता लगता है कि किसी वस्तु के साथ लगा हुआ विशेषण वस्तु की वास्तविकता को ढंक लेता है। इतना बड़ा अधर्म वही कर सकता है जो लोक में धर्मराज के नाम से विख्यात हो। 'धर्मराज' शब्द का इतना व्यंग्य-गर्भ प्रयोग व्यास जैसा महाकवि ही कर सकता है। पर इस 'धर्म-सम्मूढ देश में अधर्मराज धर्मराज ही कहा जायेगा"।[94]

उपन्यास में एक स्थान पर कर्ण अपनी माता राधा से कहता है—"मां, आप चिन्ता न करें। ... मैं मृत्युंजय हूं। इस युद्ध में जो बच जायेंगे उनकी मृत्यु भी ध्रुव है। हां, वे हड्डियों के पठारों और रक्त-प्लावित भूमि पर राज्य करेंगे। मैंने मृत्यु का वरण कर लिया है। मुझे औरों की तरह न द्विविधा है, न शंका। मृत्यु का वरण वाला ही अपने में जीवन को पूरा का पूरा भर पाता है। इस युद्ध में मैं कुछ बचाने का प्रयास कर रहा हूं। मेरे बाद वही बचेगा। ... व्यास चाहें जो लिखें लोक के बीच में ही जीवित बचूंगा। मेरे साथ एक

व्यक्ति और बचेगा—कृष्ण्। युद्ध केवल दो ही व्यक्ति लड़ रहे हैं—कृष्ण और मैं। पर मृत्युंजय केवल मैं ही हूं। ... जब-जब राजे-महाराजे, ऋषि-मुनि, क्षत्रिय, ब्राह्मण, सूतपुत्रों और उनके समानधर्मा लोगों को अपमानित करते रहेंगे, उनका रक्त पीते रहेंगे, तब-तब मैं जीवित होकर उनमें संघर्ष की ऊर्जा भरूंगा। इन्द्र से अपना कवच-कुंडल छीनकर उन्हीं दलितों को सौंप दूंगा"। [95]

और ठीक यही बात, उपन्यास के अन्त-भाग में संजय कहता है—"मेरे मन में एक प्रश्न उठता है—इन पंक्तियों को लिखते समय उठता है कि राष्ट्ररक्षा की समस्या का समाधान कृष्णमार्ग से होगा या कर्णमार्ग से? कृष्णमार्ग से युद्ध जीता जा सकता है, देश को स्मशान बनाकर। मनुष्यता को बचाने के लिए कर्णमार्ग अनिवार्य है।... कर्ण मूल्यों के लिए लड़ रहा था। इस युद्ध में उसका मारा जाना ध्रुव सत्य है। मूल्यों की लड़ाई लड़ने वाला प्रत्येक व्यक्ति मारा जाता है, मारा जाता रहेगा। अन्याय-अत्याचार, आत्मबद्ध समाज में एक-दो ऐसे व्यक्तियों को रहने देना चाहिए जो मूल्यों के लिए मरें। इस अर्थ में—प्रत्येक अर्थ में—वह एकदम अकेला था"।[96]

उपन्यास के अंतिम वाक्यों में कर्ण की मृत्यु बहुत संक्षेप में अभिव्यंजित हुई है जो शायद उसे दी गई सर्वोत्तम श्रंद्धाजली भी है—"कर्ण के शरीर से एक तेज निकला और सौर-मंडल को चीरता हुआ महाशून्य में विलीन हो गया।... भूकम्प की गड़गड़ाहट। एक तीव्र झटका। भारतीय आस्था, विश्वास और संस्कृति की प्रतीक नदी सरस्वती के कगारों के टूटने का भयानक धमाका। प्रात:काल नदी नहीं थी"। [97] संजय का यह वाक्य भी ध्वन्यात्मक है—"मेरे मन में यह बात बैठ गयी कि व्यास को अलग हटाकर महाभारत के महारण्य में पाठक को कभी घूसना चाहिए"।[98] प्रस्तुत उपन्यास का यही प्रयास है।

(9) 'संभवामि' उपन्यास के लेखक सन्हैयालाल ओझा के संदर्भ में डॉ. गोपालराय 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' में लिखते हैं – "सन्हैयालाल ओझा का पहला उपन्यास 'सम्पर्क और समर्पण' संभवतः 1950 ई. में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद ओझाजी के

'मनुष्य का मूल्य', 'मकड़ी का जाल', 'सिन्धुसीमान्त', 'सर्वनाम', 'संभवामि', 'कसौटी' आदि लगभग एक दर्जन छोटे-बड़े उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें 'सर्वनाम' और 'संभवामि' ही किंचित् उल्लेखनीय हैं, जो क्रमशः बंगाल में जनमे नक्सलबाड़ी आंदोलन और पुराकाल में आर्यों के स्वल्पज्ञात इतिहास पर आधारित उपन्यास हैं। 'संभवामि' में ओझाजी ने 'देव सभ्यता' का मानवीकरण और उसकी तर्कसंगत व्याख्या करते हुए उसमें लोकतांत्रिक, समाजवादी और आधुनिक मानवीय दृष्टि से संपन्न समाज की कल्पना की है। उपन्यास का कथा-संसार तीन स्तरों पर निर्मित है; एक स्तर पर देवों और अ-देवों की संघर्षगाथा, दूसरे स्तर पर द्वितीय विश्वयुद्ध की कथा और तीसरे स्तर पर 'लेखक बनाम अंधेरे' की कहानी है, जिसके भीतर से किरचियों की पुरातत्व गाथा फूटती है। इस उपन्यास में इन्द्र को फासीवाद के प्रतिनिधि के रूप में और सैन्धव पणिकों के महानायक बबु को धीरोदात्त नायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है।"[99]

प्रस्तुत उपन्यास को पूर्णरूपेण पौराणिक नहीं कहा जा सकता। प्रथम स्तर पर जो देवों और दानवों का या आर्य-अनार्यों का संघर्ष है उसे हम पौराणिकता की कोटि में रख सकते हैं; लेकिन दूसरे और तीसरे स्तर की कथा को इतिहास की परिधि में रखा जा सकता है। डॉ. त्रिभवनसिंह ने यथार्थ ही कहा है – "अतः पुराण और इतिहास के झूले पर झूलती उपन्यास की कथा वर्तमान में अतीत की पुनरावृत्ति का ऐतिहासिक साक्षात्कार कराती है।"[100]

सन्हैयालाल ओझा इतिहास, पुरातत्व, नृवंशशास्त्र आदि के गंभीर अध्येता हैं। प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से उन्होंने यह प्रस्थापित किया है कि आज मनुष्य की जो स्थिति है, मनुष्य के सामने जो संकट हैं, ये पहली बार की घटना नहीं है। हर युग में यह होता आया है। मनुष्य की मूलभूत चित्त-वृत्तियों में कोई खास बदलाव नहीं आया है। बाह्य रूप बदलता है। आंतरिक स्वरूप में कोई खास परिवर्तन नहीं होता है। लेखक इन्द्र को फासीवाद का प्रतीक इसलिए मानता है कि इन्द्र देवों का देव है। वह स्वयं को श्रेष्ठ मानता है।

इन्द्र और देवताओं की यही सोच है कि वे ही सही हैं, सच्चे हैं, सर्वोत्तम हैं और विश्व पर राज्य करने के लिए ही हैं। हम महान, हमारी संस्कृति महान। यही तो गाना हिटलर और मुसोलिनी का था। सभी कट्टरवादी ऐसा ही मानते हैं। लेखक ने देव सभ्यता का मानवीकरण किया है। 'वयं रक्षामः' में आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने भी यही किया था।

इस उपन्यास के संदर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का अभिमत है – 'मुझे यह कहने में संकोच नहीं होता कि यह रचना हिन्दी की श्रेष्ठ रचनाओं में बहुत उच्च स्थान पर बिराजेगी। जहां तक रूप-विन्यास का प्रश्न है मुझे स्पष्ट लगता है कि आप में यह पकड़ अदभुत रूप में है और इसके बल पर आप अन्य शक्तिशाली रचनाकारों से भी आगे बढ़ गये हैं। हिन्दी का यह सौभाग्य है कि भारतीय परंपरा से एवं पश्चिमी परंपरा से निडर परिचय रखनेवाली सृजनशील लेखकों की शक्तिशाली परंपरा में आप जैसे मेघावी और व्युत्पन्न व्यक्तित्व है और हिन्दी की सांस्कृतिक उपन्यास की धारा को पुष्ट कर रहे हैं।"[101] प्राच्यविद्याविशारद और इतिहासवेत्ता, दोनों ही वर्ग के पाठक इस उपन्यास के अध्ययन से लाभान्वित हो सकते हैं। प्रेमचन्द ने एक स्थान पर लिखा था कि उपन्यास एक ऐसी विधा है कि किसी भी विधाशाखा या विषय का अध्येता अपनी-अपनी दक्षता को यहां प्रमाणिक कर सकता है, बस शर्त यह है कि अपने विषय के सृजनात्मक औपन्यासिक मोड़ देने की क्षमता या प्रतिभा उसमें होनी चाहिए। पर यह भी देखा गया है कि सामाजिक, समाजवादी, राजनीतिक, आंचलिक, मनोवैज्ञानिक आदि उपन्यासों पर जितना ध्यान पाठकों और समीक्षकों का गया है, उतना अनुसंधानमूलक उपन्यासों पर नहीं गया है, क्योंकि यहां किसी अन्य विषय की सज्जता और पैठ अपेक्षित है। अभी हिन्दी का सामान्य पाठक, और समीक्षक भी, इससे कोसों दूर है। प्रचार-प्रसार से दूर रहने वाले ओझाजी के इस उपन्यास की जितनी और जैसी आलोचना होनी चाहिए, नहीं हुई है, यह सखेद लिखना पड़ता है।

(10) एकदा नैमिषारण्ये (1972) :

अमृतलाल नागर प्रेमचन्दोत्तर काल तथा स्वातंत्र्योत्तर काल के एक प्रमुख उपन्यासकार हैं। उनका प्रथम उपन्यास 'महाकाल' 1947 ई. में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद उनके 'सेठ बांकेमल' (1955), 'बूंद और समुद्र' (1956), 'शतरंज के मोहरे' (1959), 'सुहाग के नूपुर' (1960), 'ये कोठेवालियां' (1961), 'अमृत और विष' (1966), 'एकदा नैमिषारण्ये' (1972), 'मानस का हंस' (1972), 'नाच्यौ बहुत गोपाल' (1978), 'खजननयन' (1981), 'करवट' (1985), 'विखरे तिनके' (1986), 'पीढ़ियां' (1990), 'अग्निगर्भा' (1983) आदि उपन्यास मिलते हैं। इनमें 'महाकाल', 'सेठ बांकेमल', 'बूंद और समुद्र', 'अमृत और विष', 'नाच्यौ बहुत गोपाल', 'बिखरे तिनके' और 'अग्निगर्भा आदि उपन्यास सामाजिक-समसामयिक पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यास हैं; तो 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर', 'सात घूंघटवाला मुखड़ा', 'मानस का हंस' और 'खंजननयन' आदि इतिहास और कल्पना पर आधृत उपन्यास हैं। 'एकदा नैमिषारण्ये' में ऐतिहासिकता और पौराणिकता का समावेश हुआ है। नागरजी के इस उपन्यास में पहली ईस्वी से लेकर चौथी सदी तक के इतिहास को लिया है। गुप्तवंश के अतिरिक्त कुषाण साम्राज्य के अवशेष के रूप में मथुरा जैसी नगरी पर उनका राज्य दिखलाया है, और नाग, भारशिव, वाकाटक, लिच्छवी तथा अन्य राज्यों की राजनैतिक गतिविधियों को चित्रित किया गया है। 102

किन्तु दूसरी तरफ सोमाहुति भार्गव, नारद, महाराज गणपति, सूत-शौनक, प्रचेता आदि पात्र उसे पौराणिकता के रंग में रंग देता है। अतः इसे पौराणिक पृष्ठभूमि पर रचित ऐतिहासिक उपन्यास, या ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखित पौराणिक उपन्यास कह सकते है। नैमिषारण्य के सोमाहुति भार्गव मथुरा के बौद्धाचार्य है। राष्ट्रिय एकता के हित के लिए वे अपने जीवन तक को संकट में डालकर अनेक महासत्रों (गोष्ठियों) का आयोजन करते रहते हैं। प्रस्तुत

उपन्यास में नैमिषारण्य की पुण्यभूमि पर चौरासी हजार ऋषियों और सन्तों की एक धर्म-सभा (पौराणिक सेमिनार) का आयोजन वे करते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास के संदर्भ में डॉ. गोपालराय अपने ग्रन्थ 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' में लिखते हैं – " 'एकदा नैमिषारण्ये' के औपन्यासिक विजन में भारतीय या हिन्दू संस्कृति के निर्माण का ऐतिहासिक आयोजन है जो नागरजी के अनुसार नैमिष आंदोलन की देन है। इस आंदोलन के द्वारा पुनर्जन्म, कर्मकाण्डवाद, उपासनावाद, ज्ञानमार्ग आदि का अंतिम रूप से समन्वय हुआ था। इस समन्वय के मूल में राष्ट्रीय एकता का भाव था। ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियों का संघर्ष उस काल की राष्ट्रीय समस्या थी जिसके कारण देश छिन्न-भिन्न हो रहा था। ब्राह्मणों के ही एक प्रतिकामी वर्ग ने श्रमण संस्कृति को वैदिक परंपरा से जोड़कर एक मिली-जुली संस्कृति का रूप दिया जो आज हिन्दू संस्कृति के नाम से जानी जाती है। नागरजी ने इस सांस्कृतिक विजन को 'एकदा नैमिषारण्ये' का आधार बनाया है। इस सांस्कृतिक पुनर्जागरण के पुरोधा के रूप में भार्गव सोमहुति जैसे महर्षि नेता की कल्पना कर और उसे उपन्यास का केन्द्रीय पात्र बनाकर उपन्यासकार ने अपने विजन को सजीव बना दिया है। पौराणिक पात्रों को कथासंसार में यथार्थ मनुष्यों के रूप में प्रस्तुत करते हुए उपन्यासकार ने उन्हें ऐसी संकटपूर्ण स्थितियों से गुजारा है, जहां मनुष्य का सच्चा रूप अपनी समस्त गरिमा और कोमलता में प्रकट हुआ है। नारद मुनि का तुलसी वृन्दाओं के मकड़जाल में फंसना, सोमाहुति भार्गव की अनुपस्थिति में उनके घर पर भृगुवत्स के गुण्डों का आक्रमण, लखनऊ में लक्ष्मण जन्मोत्सव का मेला और भार्गव सोमाहुति के द्वारा भारत की नागपत्नी प्रज्ञा की रक्षा आदि अनेक प्रसंग औपन्यासिक कल्पना की मनोरम सृष्टि है।"[103]

पौराणिक कथा-वृत्तों में जो अतिशयोक्ति और चमत्कारपूर्ण घटनाएं होती हैं उनके संदर्भ में नारद मुनि का कथन है – "प्राचीनता में चमत्कार भरने से आत्मविश्वास बढ़ेगा। देव ऋषि पितृ आदिकों के

क्रिया-कलापों को अलौकिक रूप से ही जनमानत में प्रतिष्ठित कीजिए।... दूध पानी के समान मिले हुए इन बहुदेशीय संस्कारों के समाज को बांधने के लिए कथाओं में उक्ति-चमत्कार लाना नितान्त आवश्यक है। पूर्वजों के अलौकिक वर्णनों से ही लोक-मानस में श्रद्धा प्रतिष्ठित होगी।"[104]

नैमिषारण्य की उस धर्मसभा में वर्ण और जाति पर भी विचार-विमर्श हुआ है। वर्ण जन्मना है अथवा कर्मणा ऐसा विवाद आम जनता में बहस का विषय बना हुआ था, अतः इस सभा में गणपति भार्गव सोमाहुति से इस संदर्भ में प्रश्न करते हैं, जिसके उत्तर में सोमाहुति कहते हैं – 'यदि जाति ब्राह्मण हुआ करती तो राजन अप्सरा पुत्र वशिष्ट कभी ब्राह्मण न माने जाते। दासीपुत्र 'कवष' और 'एलूष' को क्यों हम पूज्यभाव देते हैं? भगवान वेदव्यास मल्लाहिन के गर्भ से जन्मे थे और पराशर चाण्डाली के पुत्र थे। जाति इनमें से एक के भी ब्राह्मणत्व प्राप्त करने में बाधा न बन सकी। ब्राह्मण मनुष्य की वह दृष्टि है जो काया और मानवी चेतना के विभिन्न भेदों की दीवार हटाकर विशुद्ध सत्य को देखती है।"[105]

यहां भार्गव सोमाहुति के विचार एक तरह से नागरजी के विचार हैं। नागरजी का वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण था, वे वर्ण को जन्मना न मानते हुए कर्मणा और जीवन-दृष्टि से सम्बद्ध बतलाते हैं। अर्थात् किसी भी जाति का व्यक्ति अपने कर्मों और विचारों से अपना वर्ण निश्चित कर सकता है।

प्रस्तुत उपन्यास में राष्ट्र को शक्तिसंपन्न और समृद्ध बनाने के शुभ संकल्प के लिए सोमाहुति भार्गव वैष्णव मुनि नारद और शिव-साम्राज्य के गिरागुरु गणपतिनाग को नैमिषाराय के सांस्कृतिक महा-सम्मेलन में आमंत्रित करते हैं। वे उनको कहते हैं – "सामाजिक भव-क्रान्ति का कार्य संपन्न हुए बिना कुशल से कुशल प्रशासक भी भरतखण्ड की रक्षा नहीं कर सकेगा और न तुम्हारी अतुल लक्ष्मी ही कोई काम आएगी। असंगठित, अव्यवस्थित समाज सदा दुर्बल रहता है, भले ही उसके व्यक्तियों में भीम, कर्ण और अर्जुन से महायोद्धा ही क्यों न हो। कलिकाल में संघ ही शक्ति है।"[106]

सोमाहुति भार्गव का मानना है कि – "अनेकता निःसंदेह मानवीय है, किन्तु अनेकता में एकता के दर्शन करने वाला ही श्रेष्ठ श्रद्धावान होता है।"[107] हमारा समाज बहुधर्मी – बहुजातीय और अतिमिश्रित है। अतः इस समय बिखराव की जरूरत नहीं है। इस बिखराव को समेटने के लिए मनुष्य-और मनुष्य के बीच की दीवारों को ढहाने के जरूरत है। एक स्थान पर सोमाहुति गणपति को समझाते हैं – "हां महाराज? अग्निदेव के पुत्रों में भृगु ही अंगिरा और कत्रि के ज्येष्ठ माने गए हैं। उन्हीं भृगुओं की एक शाखा जो योनद्वीप में जाकर बस गई थी, अब आपकी दृष्टि में म्लेच्छ हैं। इनके आततायी रूप से लड़ने के पक्ष में मैं भी हूं। पर इन स्वबांधवों को पराया कैसे मान लूं। ज्योतिष शास्त्र के प्रणेता होने के कारण वे देववत् पूज्य हैं। शक और आर्य इसी प्रकार से दो नहीं एक ही मूल के हैं। हमारे पूर्वज सुमेरू से पहले चले और भूमध्य तक फैले नाना मार्गों से यहां आए। यह आवागमन बारबार होता रहा है। हे गिरागुरु भविष्य की चिन्ता, अपने वर्तमान बिखराव और भूतकाल के अपने कटु अनुभवों से प्रेरित होकर यह विनम्र भागवत धर्मी आज इन महाशक्तियों को नष्ट करने के पक्ष में नहीं है, वह इन्हें बटोरकर एक पूंज में देखने को लालायित है।"[108]

इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में नागरजी पौराणिक पात्रों और उदाहरणों के माध्यम से, इतिहास को ध्यान में रखते हुए वर्तमान के बिखराव की बात करते हैं। राष्ट्र का निर्माण बिखराव से नहीं होगा, पास-पास आने से होगा। यही इस उपन्यास का संदेश है।

मनु शर्मा के पौराणिक उपन्यास :

मनुशर्मा का प्रथम उपन्यास सन् 1954 में 'राणा सांगा' के रूप में आया था। उसके बाद 'बप्पा रावल' (1960) में आया। परंतु सन् 1974 में उनका उपन्यास 'द्रौपदी की आत्म कथा' प्रकाशित हुआ, उसके साथ ही पौराणिक उपन्यास-लेखन में वे उत्तरोत्तर आगे बढ़ते गये हैं। उनके पौराणिक उपन्यासों में 'द्रौपदी की आत्मकथा' के

अतिरिक्त 'द्रौण की आत्मकथा', 'कर्ण की आत्मकथा' और 'कृष्ण की आत्मकथा' (पाँच भाग) आदि की गणना कर सकते हैं।

'द्रौपदी की आत्मकथा' मनु शर्मा का एक लघु उपन्यास है। इसमें लेखक ने द्रौपदी की समग्र चेतना को उसके जीवनगत समस्त सन्दर्भों के साथ बड़ी मार्मिकता के साथ नियोजित किया है। द्रौपदी महाभारत का बड़ा ही विवादास्पद एवं सर्वाधिक चर्चित चरित्र रहा है। उसके संदर्भ में अनुकूल तथा प्रति-कूल टिप्पणियां मिलती रहती हैं। पाँच पतियों के बावजूद हमारी परंपरा में सती के रूप में वह सुपूजित है, तो दूसरी तरफ आज भी मां-बाप अपनी बेटी का नाम 'द्रौपदी' रखने में सौ बार विचार कर सकते हैं। यज्ञ की अग्नि से उत्पन्न द्रौपदी जीवन भर जलती रही है। द्रौपदी का जन्म ही द्रुपद की प्रतिक्रिया का परिणाम है और बाद में भी उसका समग्र जीवन प्रतिक्रियात्मक वातावरण में ही व्यतीत होता है। यह भी सही है कि द्रौपदी न होती तो शायद महासमर भी न होता। चीरहरण के अपमान का प्रतिशोध उसे कभी चैन से जीने नहीं देता। शायद चीरहरण के बाद का उसका प्रतिशोध की प्रतीक्षा बन जाता है। धुतसभा में हारते पांडव हैं, पर द्रौपदी के अलावा और किसी पांडव-पत्नी का ऐसा अपमान नहीं होता। जहां वह पाँच पतियों की प्रिय पत्नी है, वहां उसे कृष्ण की सखी और प्रेमिका होने का गौरव भी प्राप्त है। कृष्ण का अशरीरी भावात्मक प्रेम तो राधा और कृष्णा को ही मिलता है। प्रतिशोध का आनंद भी वह नहीं ले पाती, क्योंकि अश्वत्थामा द्वारा उसके पाँच पुत्रों तथा भाइयों की हत्या होती है। उपन्यास में द्रौपदी का अन्तर्मन्थन श्लाधनीय बन पड़ा है। मनु शर्मा उसके चरित्र के कोणों को आधुनिक मनोविज्ञान से जोड़कर उसे और भी प्रासंगिक और विश्वसनीय बना दिया है।

'द्रोण की आत्मकथा' मनु शर्मा का दूसरा पौराणिक उपन्यास है। ऋषि भारद्वाज और अप्सरा घृताची की संतान। द्रोण को माता-पिता का प्रेम व सानिध्य प्राप्त नहीं हुआ था, क्योंकि माता अप्सरा थी और पिता तभी दिवंगत हो गये जब उनकी शस्त्र-शास्त्र की शिक्षा समाप्त हुई। प्रस्तुत उपन्यास में द्रोण के जन्म से लेकर

महाभारत के युद्ध की पूर्व-संध्या तक की घटनाओं को संजोया गया है। 'द्रोण' शब्द का अर्थ 'यज्ञपात्र' होता है। धार्मिक पूजापाठ के समय विभिन्न द्रव्यों को रखने के लिए आज भी 'दोनोंका; उपयोग होता है। 'द्रोण' से ही 'दोना' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। घृताची अप्सरा को देखकर ऋषि भारद्वाज का वीर्य स्खलित हो जाता है। कथा कुछ इस तरह है कि भारद्वाज गंगा में स्नान करती हुई अप्सरा घृताची को देखकर स्खलित हो जाते हैं, तो उस वीर्य को एक यज्ञपात्र में रख लिया जाता है और उसीसे जिस बालक का जन्म होता है वह 'द्रोण' नाम से विख्यात होता है।[109]

यही द्रोण शस्त्रास्त्र तथा शास्त्र के महान ज्ञाता तथा योद्धा प्रमाणित होते हैं। शस्त्रास्त्र की शिक्षा उनको गुरु परशुराम से मिली है जो उस समय के महान योद्धा थे। भीष्म भी उनके ही शिष्य थे। गुरुकुल में द्रोण की भेंट द्रुपद से होती है, द्रोण द्रुपद की सहायता भी करते हैं। फलतः दोनों में मैत्री-संबंध स्थापित होता है। उस मैत्री को आजीवन निभाने का द्रुपद वादा करता है, परन्तु कालान्तर में वह अपनी बात से मुकर जाता है। अपनी विपन्न अवस्था में द्रोण पत्नी के कहने पर जब द्रुपद की सहायता मांगने जाते हैं तब द्रुपद न केवल उस मैत्री-संबंध को नकार देता है, बल्कि उनका अपमान भी करता है। ब्राह्मण सबकुछ भूल सकता है, अपना अपमान नहीं। अतः द्रोण भी इसका प्रतिशोध लेने की भीषण प्रतिज्ञा लेते हैं। यही वह बिन्दु है, जहां डॉ. कोहली द्वारा प्रणीत 'अभिज्ञान' की कथा अलग पड़ती है। उसमें कृष्ण सुदामा को अपनी मैत्री का अभिज्ञान देते हैं।

यहां से गुरु द्रोण के जीवन में भयंकर प्रकार का मोड़ आता है। अपनी विपन्नता को त्यागकर वह हस्तिनापुर जाते हैं और पांडवों तथा कौरवों के गुरुपद को स्वीकार करते हैं। कुटिया से महल तक की यात्रा तो वह कर लेते हैं। परंतु यहां से एक अनैतिक परंपरा की शुरुआत होती है – वैतनिक गुरु-परंपरा। द्रुपद से प्रतिशोध लेने के लिए वह अर्जुन को विशेष रूप से प्रशिक्षित करते हैं। शिष्य और शिष्य के बीच में अंतर करने की प्रवृति भी यहां से शुरु होती है। अपने पुत्र अश्वत्थामा को वह छिप-छिप कर पढ़ाते हैं। कुटिलता और

कपट की शिक्षा का प्रारंभ भी यहां से होता है। इसके कारण ही एकलव्य का अंगूठा कटवाने जैसा घृणित कर्म उनको करना पड़ता है। इसका पश्चाताप वे जीवनपर्यन्त करते हैं। इसकी ग्लानि उन्हें हमेशा रहती है और इसके कारण ही उनका चरित्र लांछित होता है। उपन्यासकार ने जगह-जगह पर आधुनिक द्रोणाचार्यों की परंपरा की बात छेड़ते हुए उनके चरित्र पर छींटाकशी की है। उपन्यास में यह भी बताया गया है कि प्रतिक्रिया कभी स्वस्थ नहीं होती। द्रुपद से बदला लेने के लिए द्रोण अर्जुन को तैयार करते हैं और उसके द्वारा द्रुपद को न केवल बन्दी बनवाकर अपने सामने उपस्थित करवाते हैं, बल्कि उसके आधे राज्य पर भी कब्जा कर लेते हैं। इस अपमान का बदला लेने के लिए द्रुपद यज्ञ करते हैं जिससे उत्पन्न द्रोपदी और धृष्टद्युम्न, महासमर का कारण और द्रोण का काल बनते हैं। हालांकि उपन्यास की कथा युद्ध के पूर्व की है। युद्ध के एक दिन पहले की संध्या तक की घटनाएं उपन्यास में समेकित हुई हैं। अतः महाभारत की कथा पर आधृत दूसरे उपन्यासों की तरह उनके वध की कथा यहां नहीं है। 'सूतो वा सूतपूत्रो वा' में तो कर्ण अपनी पांडुलिपि संजय को दे देता है, अतः कर्ण-वध-कलंक-कथा संजय द्वारा आलेखित हुई है, परंतु यहां लेखक ऐसी कोई युक्ति न प्रयोजते हुए महाभारत के युद्ध-पूर्व तक की कथा ही लेते हैं। गुरु द्रोण की आत्मकथा का काला पृष्ठ यहां एकलव्य-प्रसंग है जिसकी चर्चा आज के दलित-विमर्श के साहित्य में खूब हो रही है।

'द्रोण की आत्मकथा' के बाद मनुशर्मा का 'कर्ण की आत्मकथा' उपन्यास आता है। कर्ण के जीवन पर डॉ. बच्चनसिंह का उपन्यास 'सूतो वा सूतपुत्रो वा' सन् 1998 में प्रकाशित हुआ था, जबकि मनु शर्मा का प्रस्तुत उपन्यास सन् 1978 में उससे बीस साल पूर्व प्रकाशित हुआ था। 'द्रोण की आत्मकथा' की भांति 'कर्ण की आत्मकथा' भी उसके मृत्यु-पूर्व तक की कथा है। अतः कर्ण-कथा का सर्वाधिक ओजस्वी पृष्ठ यहां अनाकलित रह जाता है। मनु शर्मा की यह विवशता भी है, क्योंकि आत्मकथाकार मर नहीं सकता। डॉ. बच्चनसिंह ने एक प्रयक्ति के द्वारा कर्ण की आत्मकथा को उसके

वध की कथा तक पहुंचाया है जिसे हम पूर्ववर्ती पृष्ठों में निरुपित कर चुके हैं। मनु शर्मा का एक अन्य पौराणिक-सांस्कृतिक उपन्यास है 'अभिशप्त कथा' जो 'कच-देवयानी' की पौराणिक कथा पर आधारित है। वस्तुतः 'कर्ण की आत्मकथा' का यही नाम होना चाहिए था। पौराणिक पात्रों में सर्वाधिक अभिशप्त यदि कोई है।

यदि वह सूतपुत्र के रूप में ही रहता तो उसे यह अभिशाप शायद न ढोना पड़ता। गंगा में बहते हुए एक जीव पर वशुषेण (कर्ण का बचपन का नाम) लक्ष्यवेध कर रहा था तब आकस्मिक रूप से एक वृद्ध ने हस्तक्षेप करते हुए उसे रोक दिया था और कहा था कि 'तुम पर किसीने शरसंधान नहीं किया, यदि किया होता तो तुम न होते। 'इस वाक्य को सुनकर बालक वशुषेण की उत्सुकता बढ़ जाती है, अतः अपने जन्म के रहस्य की गुत्थी को सुलझाने के लिए वह माता राधा और पिता अधिरथ की बातें छिप-छिपकर सुनता रहता है। उसीमें उसे ज्ञात होता है कि उसकी जन्मदाता माता ने तो उसे गंगा में बहा दिया था और राधा और अधिरथ उसके पालक माता-पिता है। परंतु कर्ण के चरित्र की यह महानता है कि वह यह रहस्य उनके सामने कभी प्रकट नहीं होने देता। सम्पूर्ण महाभारत में यह महारथी राधेय के नाम से ही जाना जाता है।

कर्ण का सम्पूर्ण जीवन अभिशप्त है। दुर्योधन और कौरवों को छोड़कर सभी उसे 'सूतपुत्र' की गाली देते रहते हैं। यहां तक कि दुर्योधन के पक्ष के लोग (महासमर में) द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्म, शल्य आदि भी उसे जब-तब सूतपुत्र कहते रहते है। मत्स्य-वेधन के समय द्रोपदी भी 'सूतपुत्र' कहकर उस महावीर का अपमानित करती है। इधर दलित कवि मलखानसिंह की 'सुनो ब्राह्मण' कविता से कुछ लोग उन्नत-भ्रू हो रहे हैं, लाल-पीले हो रहे हैं, तो कर्ण को ये शब्द-बाण कितना बेधते होंगे, उसकी कल्पना ही असह्य है। अपमान की यह तिक्तता अनेकगुना बढ़ जाती है क्योंकि कर्ण कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है। स्वयं कृष्ण और अर्जुन उसका लोहा मान चुके हैं। ऐसा महावीर-दानवीर कई-कई बार अपमानित-लांछित होता रहता है।

कर्ण ने मित्र-धर्म को मानव-मूल्यों के उच्चतम शिखर पर स्थापित किया है। ज्ञात होने पर भी कि वह कौन्तेय है, युधिष्ठर का बड़ा भाई है, और युद्ध के उपरान्त हस्तिनापुर का हकदार है, द्रौपदी उसके पैर पखार सकती है, अपने निर्णय पर ध्रुव की तरह अटल रहता है। वह जानता है कि जीत पांडवों की ही होगी, फ़िर भी अपने चट्टानी इरादों में विचलित नहीं होता। कर्ण की यह महानता अद्वितीय है। कर्ण के इस चरित्र को 'एकमेवोद्वितीयम' कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। युद्ध के पूर्व ब्राह्मण-वेश में आये इन्द्र को अपने सुरक्षा-कवच समान 'कनक-कुंडल व कवच' दे देना, जबकि सूर्य ने स्वप्न में आकर उसे आगाह कर दिया था। कुन्ती को यह वचन देना कि केवल पार्थ को छोड़कर वह अन्य किसी पांड्व पर वार नहीं करेगा, ये सब बातें उसके चरित्र की ऊंचाइयों को ऊपर उठाती हैं।

किन्तु कुछ बातें हैं जो कर्ण के इस महानतम चरित्र पर दाग लगवाती हैं—धृतराष्ट्र की सभा में चीरहरण प्रसंग पर द्रौपदी को लेकर उसकी टिप्पणी, चक्रव्यूह में अकेले निहत्ये अभिमन्यु को सात महारथियों के मिलकर मारना, दुर्योधन की कुटिलता में उसकी सहभागिता जैसे प्रसंगों में कर्ण का चरित्र-विचलन उसकी परिस्थितियों को देखते हुए क्षम्य कहा जा सकता है।

जातिगत अभिशप्तता के साथ-साथ उसे दोहरे अभिशापों को भी झेलना पड़ता है। गुरु परशुराम का यह शाप कि निर्णायक क्षणों में उसे अपनी ब्रह्मास्त्र-विषयक विद्या का विस्मरण हो जायेगा। आश्रम में अभ्यास करते हुए एक ब्राह्मण की होमधेनु का बछड़ा, उसके हाथों मारा जाता है, तब वह उसे शाप देता है कि कुरुक्षेत्र के युद्ध में जब वह भयाक्रान्त होगा तब उसके रथ का पहिया कीचड़ में फ़ंस जायेगा। ऐसे अनेकों अभिशापों से भी कर्ण अभिशप्त है।[110]

मनु शर्मा ने कर्ण के शैशव-जीवन की कथा का आलेखन अपनी कल्पना से किया है। दूसरे लेखक ने कर्ण की पत्नी के रूप में 'माला' का उल्लेख किया है जिसका पुराणों में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। डॉ. बच्चनसिंह ने 'माला' के स्थान पर 'दीपाली' का उल्लेख किया है।[111]

मनु शर्मा की इस 'आत्मकथा-शृंखला' में 'कृष्ण की आत्मकथा' भी शामिल है जिसे उन्होंने पाँच भागों में उपन्यस्त किया है। प्रथम भाग सन् 1992 में आता है, जबकि पांचवां भाग सन् 1997 में प्रकाशित हुआ है। लगभग यही समय है जब डॉ. नरेन्द्र कोहली 'महासमर भाग 1 से 5 'लिख चुके थे। वहां भी 'महासमर भाग-2' से पांडव-कथा के समानान्तर कृष्णकथा चलती है। गुजराती में कन्हैयालाल मुंशी ने 'कृष्णावतार' के रुप में अनेक खण्डों में कृष्णकथा का आलेख किया है। लगभग सभी भारतीय भाषाओं में विपुल परिमाण में कृष्ण पर लिखा गया है।

मनु शर्मा ने भी इस बहुआयामी चरित्र पर अपनी औपन्यासिक कला का प्रयोग किया है। भारतीय साहित्य में कृष्ण 'गोपाल', 'द्वारिकाधीश' और 'गीता के उपदेष्टा' के रूप में चित्रित हैं। मनु शर्मा ने कृष्ण के तीनों रूपों को लिया है। पहला भाग नारद की भविष्यवाणी से शुरू होता है। उसकी प्रमुख घटनाओं में पूतनावध, कालियनाग, गोवर्धनपूजन, कुब्जा-प्रसंग, कुवलयापीड-प्रसंग, चाणूर वध आदि है: पर इनके समानान्तर राधा तथा गोपियों के साथ के रास और अन्य लीलाओं का भी वर्णन है। डॉ. भगवतीशरण मिश्र के उपन्यास 'प्रथम पुरुष' से मनु शर्मा थोड़े अलग पड़ते है। डॉ. मिश्र केवल अशरीरी प्रेम की बात करते हैं, जब कि मनु शर्मा ने कृष्ण के मांसल-प्रेम के रूप को भी लिया है। उपन्यास के दूसरे भाग में कंस वध के उपरान्त द्वारिका की स्थापना तक की कथा को लिया गया है। भाग तीन में द्रौपदी स्वयंवर तक की घटनाओं को निरुपित किया गया है जिसे दो छद्म-मृत्यु कथाओं के आधार पर गढ़ा गया है। वर्णावत के लाक्षागृह में पांडवों की मृत्यु-कथा तथा कालयवन की चढ़ाई के बाद कृष्ण की ओढ़ी हुई मृत्यु। यहां तत्कालीन अनेक राजनीतक गतिविधियों का भी चित्रण हुआ है। यहां लेखक ने यह भी प्रस्थापित किया है कि नारी मात्र वासना की पुत्तलिका नहीं, उसका व्यक्तित्व, पति और परिवार तक ही सीमित नहीं, अपितु बाहरी दुनिया में भी वह बराबरी का अधिकार रखती है। चौथे भाग में राजसूय यज्ञ तक की घटनाओं को नियोजित किया गया है, तो

पांचवे अंतिम भाग में द्रौपदी चीरहरण, पांडवों का वनवास, उनका अज्ञातवास, उसके बीच की परिवर्तित राजनीतिक स्थितियां और युद्ध आदि को लिया गया है। युद्ध के उपरान्त की विषादपूर्ण स्थिति को कृष्ण के निर्वाण तक खींचा गया है।

'कृष्ण की आत्मकथा' के संदर्भ में डॉ. त्रिभुवनसिंह ने लिखा है—"मनु शर्मा की यह सबसे बड़ी उपलब्धि रही है कि इस उपन्यास के द्वारा उन्होंने कृष्ण के विराट व्यक्तित्व को अविभाज्य रूप में प्रस्तुत कर समस्त मानवीय गुणों को एक व्यक्तित्व प्रदान किया है। गांव की गलियों में राधा के साथ मांसल-क्रीडा करने वाला कृष्ण यमुना के तटीयनिकुंजों में रास रचाता तथा अलौकिक चमत्कार दिखलाता युग की सारी विषमताओं के बीच से गुजरता हुआ गीता का उपदेश देता है।"[112]

'अभिशप्त कथा' मनु शर्मा का एक और पौराणिक उपन्यास है। इसमें लेखक ने कच-देवयानी की कथा को एक नया आयाम दिया है। सत्तासीन बने रहने के लिए देवता तक कितने नीचे गिर सकते हैं, इसे यहां बताया गया है। दूसरी तरफ़ लेखक यह भी बताते हैं कि किस तरह युवा पीढ़ी अपनी जातीय संस्कृति की रक्षा के लिए अगुवाई कर सकती है। इस उपन्यास में सुरासुर संग्राम की कथा भी नियोजित है। इस उपक्रम में देवेन्द्र और राक्षसराज वृषपर्वा अपने-अपने हितों की रक्षा के लिए स्वार्थपरता की वेदी पर अपनी-अपनी पुत्रियों को चढ़ा देते हैं। असुरों के गुरु शुक्राचार्य के पास संजीवनी विद्या थी। असुर चाहते थे कि वह विद्या देवताओं के पास न पहुंचे, दूसरी तरफ़ देवताओं के गुरु बृहस्पति के पुत्र कच उसे प्राप्त करने के लिए कमर कस लेता है। शुक्राचार्य सुरा-सुन्दरी के शौकीन थे। अत: देवराज इन्द्र तथा असुरराज वृषपर्वा दोनों अपनी-अपनी कन्याओं को उनके पास भेजते हैं, जबकि दूसरी और कच रात-दिन अनन्य सुंदरियों के बीच रहते हुए भी अपनी चारित्रिक-निष्ठा को बरकरार रखता है। इतना ही नहीं वह बड़ी सिफ़त से उस देवकार्य को भी संपन्न करता है। उपन्यासकार की कलात्मक प्रौढ़ता के कारण प्रस्तुत उपन्यास एक 'सेक्सी-उपन्यास' होने से बच गया।

निष्कर्ष:

अध्याय के समग्रावलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष तक सहजतया पहुंच सकते हैं—

(1) डॉ. नरेन्द्र कोहली के अतिरिक्त पौराणिक उपन्यास की विधा में जो लेखक आते हैं उनमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, डॉ. भगवानसिंह, डॉ. भगवतीशरण मिश्र, डॉ. बच्चनसिंह, सन्हैयालाल ओझा, अमृतलाल नागर, मनु शर्मा आदि उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं।

(2) इनके पौराणिक उपन्यासों में 'अनामदास का पोथा', 'वयं रक्षामः', 'अपने अपने राम' (उपर्युक्त में से प्रारंभ के तीन उपन्यासकार); 'प्रथम पुरुष', 'पुरुषोत्तम', 'पवन-पुत्र' (डॉ. भगवती शरण मिश्र); 'सूतो वा सूतपुत्रो वा' (डॉ. बच्चनसिंह), 'संभवामि' (सन्हैयालाल ओझा), 'एकदानैमिषारण्ये' (अमृतलाल नगर) आदि की गणना कर सकते हैं।

(3) डॉ. नरेन्द्र कोहली का एक अन्य पौराणिक उपन्यास 'अभिज्ञान' भी मिलता है जो कृष्ण-सुदामा की मैत्री की कथा पर आधृत है।

(4) पौराणिक उपन्यासों के लेखन में मनु शर्मा का नाम भी उल्लेखनीय कहा जा सकता ह। उन्होंने 'आत्मकथा-शृंखला' में द्रौपदी, द्रोण, कर्म, कृष्ण आदि पौराणिक पात्रों को लेकर कई उपन्यासों की रचना की है। उनका 'कृष्ण की आत्मकथा' उपन्यास पांच भागों में उपन्यस्त हुआ है जिसमें कृष्ण का अविभाज्य विराट बहुआयामी चरित्र उभरकर आता है।

(5) अनामदास का पोथा 'उपनिषदकाल, 'वयं रक्षामः रामायणकाल, 'अपने अपने राम' रामायणकाल, 'प्रथम पुरुष' तथा 'पुरुषोत्तम' महाभारतकाल, 'पवनपुत्र' रामायणकाल, 'अभिज्ञान' महाभारतकाल, 'सूतो वा सूतपुत्रो वा' महाभारतकाल, 'संभवामि' पौराणिककाल तथा इतिहासकाल, 'एकदा नैमिषारण्ये' पौराणिक काल तथा इतिहासकाल आदि कालखण्डों पर आधारित उपन्यास है। मनु

शर्मा के उपन्यास भी महाभारत के पात्रों पर आधृत है। उनका 'अभिशप्त कथा' उपन्यास देवासुर-संग्राम की कथा पर आधारित है।

(6) 'संभवामि' तथा 'एकदानैमिषारण्ये' को हम पूर्णतया पौराणिक नहीं कह सकते, क्योंकि वहां पुराणों के अतिरिक्त इतिहास का भी आधार ग्रहण किया गया है।

(7) 'वयं रक्षाम:' रावण को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। नृवंशशास्त्र की दृष्टि से भी इस उपन्यास का मूल्यांकन करना चाहिए। 'सूतो वा सूतपुत्रो वा' कर्ण को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। जो लोग महाभारत की कथा को व्यास से हटकर देखना चाहते हैं, उनके लिए यह उपन्यास विशेष रूप से पठनीय है।

(8) 'वयं रक्षाम:', 'अपने अपने राम' तथा 'सूतो वा सूतपुत्रो वा' में मिथकीय चरित्रों के साथ काफ़ी छूटछाट ली गई है।

सन्दर्भानुक्रम :

1. 'हजारीप्रसाद द्विवेदी: सर्जक और चिंतक' : डॉ. मृदुला पारीक: पृष्ठ 145 ।
2. द्रष्टव्य: डॉ. शांतिस्वरूप गुप्त: 252 उपन्यासों की समीक्षा: सं सुषमा गुप्ता: द्वितीय खण्ड: पृष्ठ 28 ।
3. अनामदास का पोथा: आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-खण्ड-2: पृष्ठ 336 ।
4. वही: पृ. 388-389 ।
5. वही: पृ. 412 ।
6. वही: पृ. 365 ।
7. द्रष्टव्य: हिन्दी उपन्यास का इतिहास: डॉ. गोपालराय: पृष्ठ 284-285 ।
8. वही: पृष्ठ 285 ।
9. वही: पृ. 285 ।
10. वयं रक्षाम: :आचार्य चतुरसेन शास्त्री: उपन्यास के प्रथम मुखपृष्ठ से।
11. 'हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा' : डॉ. रामदरश मिश्र : पृ. 198 ।
12. हिन्दी उपन्यास का इतिहास : डॉ. गोपालराय : पृ. 196-197 ।
13. डॉ. आलोक गुप्त : आलेख – 'रामकथा पर आधारित साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास' : ग्रन्थ – 'साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास' : संपादकद्वय -- डॉ. एम. बी. पटेल तथा डॉ. दिलीप मेहरा : पृ. 23 ।
14. वयं रक्षामः : पूर्व-निवेदन : पृ. 8 ।
15. वही: पृ. 9 ।
16. वही: पृ. 16 ।
17. द्रष्टव्य : भारतीय साहित्यकोश : सं. डॉ. नगेन्द्र : पृ. 100
18. वयं रक्षामः :पूर्व-निवेदन : पृ. 7 ।
19. वही: पृ. 257 ।

20. वही: पृ. 206 ।
21. वही: पृ. 16 ।
22. वही: पृ. 17 ।
23. वही: पृ. 20 ।
24. वही: पृ. 211 ।
25. वही: पृ. 212 ।
26. वही: पृ. 219 ।
27. वही: पृ. 222 ।
28. वही: पृ. 224 ।
29. वही: पृ. 230 ।
30. द्रष्टव्य : वही: पृ. क्रमशः 257, 258, 259-260, 290-294, 295-298, 299-304, 305, 316, 323, 326, 328, 329, 331, 336, 340, 345, 346, 353, 353-360, 364, 370, 372, 374-378, 378, 388, 391, 395-396, 397, 414, 416, 418-420 ।
31. वयं रक्षामः : पृ. 238-254 ।
32. वही: पृ. 423-427 ।
33. द्रष्टव्य : अपने अपने राम : डॉ. भगवानसिंह : पृ. 85 ।
34. वही: पृ. 118-119 ।
35. वही: पृ. 176 ।
36. वही: पृ. 10-11 ।
37. वही: पृ. 14 ।
38. वही: पृ. 13-15 ।
39. वही: पृ. 344 ।
40. वही: पृ. 310-311 ।
41. वही: पृ. 311 ।
42. वही: पृ. 311 ।
43. वही: पृ. 311 ।
44. वही: पृ. 312 ।
45. वही: पृ. 312 ।

46. वही: पृ. 329 ।
47. वही : उपन्यास के द्वितिय मुखपृष्ठ से ।
48. वही : उपन्यास के द्वितिय मुखपृष्ठ से ।
49. द्रष्टव्य : प्रथम पुरुष : डॉ. भगवती मिश्र : भूमिका से : पृ 5 ।
50. वही: पृ. 6-7 ।
51. संस्कृति के चार अध्याय : डॉ. रामधारीसिंह दिनकर : पृ. 99-100 ।
52. प्रथम पुरुष : भूमिका से : पृ. 9 ।
53. संस्कृति के चार अध्याय : पृ. 99-100 ।
54. प्रथम पुरुष : भूमिका से : पृ. 9 ।
55. मिलन के क्षण चार : डॉ. पारुकान्त देसाई : पृ. 9 ।
56. प्रथम पुरुष : पृ.13-30 ।
57. वही: पृ. 31-100 ।
58. वही: पृ. 101-115 ।
59. वही: पृ. 116-196 ।
60. वही: पृ. 197-256 ।
61. वही: पृ. 381 ।
62. वही: पृ. 380-381 ।
63. द्रष्टव्य : आनंद रामायण : सारकाण्डम : 8/ 66-67 ।
64. पुरुषोत्तम :डॉ. भगवतीशरण मिश्र : पृ. 499 ।
65. वही: पृ. 496 ।
66. सूखे सेमल के वृन्तों पर : डॉ. पारुकान्त देसाई : पृ. 61 ।
67. पुरुषोत्तम : पृ. 234 ।
68. वही: पृ. 234 ।
69. वही: पृ. 490 ।
70. पवनपुत्र : डॉ. भगवतीशरण मिश्र : भूमिका : पृ. 7 ।
71. वही : भूमिका से ।
72. भारतीय मिथक कोश : डॉ. उषापुरि विद्यावाचस्पति पृ. 363 ।
73. वही: पृ. 364-365 ।
74. पवनपुत्र : पृ. 11 ।

75. वही: पृ. 12 ।
76. भागीरथी (पत्रिका) : पृ. 35 ।
77. पवनपुत्र : पृ. 306 ।
78. भागीरथी : पृ. 38 ।
79. पवनपुत्र : पृ. 352 ।
80. वही: पृ. 83 ।
81. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक : रेडियो-वार्ता से : आकाशवाणी (दिल्ली) : दिनांक- 26-4-1982 ।
82. वही
83. अभिमान : डॉ. नरेन्द्र कोहली : पृ. 165 ।
84. नया साहित्य (पत्रिका) : मार्च-1982 : पृ. 3 ।
85. अभिज्ञान : पृ. 26 ।
86. आजकल (पत्रिका) : डॉ. विनय : मार्च-1983 : पृ. 49 ।
87. अभिज्ञान : पृ. 30 ।
88. सूतो वा सूतपुत्रो वा : डॉ. बच्चनसिंह : भूमिका ।
89. वही: पृ. 157 ।
90. वही: पृ. 11-92 ।
91. वही: पृ. 95-233 ।
92. वही: पृ. 237-266 ।
93. वही: पृ. 256 ।
94. वही: पृ. 223 ।
95. वही: पृ. 174 ।
96. वही: पृ. 264 ।
97. वही: पृ. 266 ।
98. वही: पृ. 294 ।
99. हिन्दी उपन्यास का इतिहास : डॉ. गोपालराय : पृ. 231 ।
100. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : डॉ. त्रिभुवनसिंह : पृ. 680 ।
101. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के एक पत्र से उद्धत ।
102. अमृतलाल नागर के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन : डॉ. नागेशराम त्रिपाठी : पृ. 126 ।

103. हिन्दी उपन्यास का इतिहास : पृ. 226 ।
104. एकदा नैमिषारण्ये : अमृतलाल नागर : पृ. 106-107 ।
105. वही: पृ. 354 ।
106. वही: पृ. 339 ।
107. वही: पृ. 427 ।
108. वही: पृ. 365-366 ।
109. भारतीय मिथक कोश : पृ. 142 ,
110. वही: पृ. 53 ।
111. सूतो वा सूतपुत्रो वा : डॉ. बच्चनसिंह : पृ. 55 ।
112. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : पृ. 693 ।

* * *